सिद्धयोग

स्थापक संरक्षक एवं
पादक
ना योगेश्वर अनन्तश्री
द्रमोहनजी महाराज

र्ष १५
ंक २ मई १९८२

श्रीसिद्ध गुफा
काशन
ई आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

इस अंक में—

- धन्यास्ते मनीषिण: १
- सिद्धों की परिभाषा
  योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज २
- कुरुक्षेत्र में योग-प्रचार
  ब्रह्मचारी श्री दासलाल शर्मा ७
- नाड़ी शुद्धि एवम् कुण्डलिनी प्रबोध
  श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री ९
- योग से व्यक्तित्व का निर्माण
  डा० श्री विजयसिंह १६
- श्री गुरुदेव और शिष्य
  श्री केशव उपाध्याय १८
- श्री गुरुदेव की प्रसन्नता का फल
  आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा २३
- साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर
  श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा ३७
- पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम् ४६

* * *

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

वार्षिक मूल्य १८ रुपया

अवश्य आइये ! ॐ अवश्य देखिये !!

योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का

वार्षिक योग महोत्सव

सभी भाई-बहिनों को यह जानकर परम हर्ष होगा कि सुप्रसिद्ध योग-साधन आश्रम ऋषिकेश का वार्षिक 'योग महोत्सव' ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी, नवमी, दशमी तदनुसार तारीख ३०, ३१ मई व १ जून ८२ ई० रविवार, सोमवार व मंगलवार को मनाया जायगा।

सदा की भांति उत्सव का कार्यक्रम बहुत ही रोचक और उपयोगी बनाने का आयोजन किया गया है। उत्सव में योग-सिद्धान्तों पर उच्चकोटि के प्रवचन, उपदेश, भजन एवं सुमधुर शास्त्रीय संगीत आदि का कार्यक्रम रहेगा। आश्रम के ब्रह्मचारी अपनी यौगिक क्रियाओं का प्रदर्शन भी करेंगे। सभी योग प्रेमियों को इस समारोह में सम्मिलित होकर लाभ उठाना चाहिए।

सभी गुरु भाई-बहिनों को श्री गुरुदेवजी की ओर से इस उत्सव के आमंत्रण पत्र भी भेजे जा रहे हैं। किन्तु कभी-कभी डाक की गड़बड़ी के कारण समय पर पहुँच नहीं पाते हैं। अतः सभी भाई-बहिन इस सूचना को ही अपना आमंत्रण समझते हुए उत्सव में सम्मिलित हों।

नोट—१ जून मंगलवार गंगा दशहरा को नगर शोभा-यात्रा (जलूस) का आयोजन है जिसमें बैण्ड बाजे के साथ विविध झांकियों का भी आयोजन रहेगा। शोभा-यात्रा सायं ६ बजे योग-साधन आश्रम से प्रारम्भ होकर ऋषिकेश के मुख्य बाजारों से होती हुई रात के ११ बजे आश्रम वापिस पहुँचेगी। अतः सभी सत्संग प्रेमियों को उत्साह के साथ इस शोभा-यात्रा एवं समारोह में सम्मिलित होना चाहिए। आगन्तुकों को मौसम के अनुकूल अपने बिस्तर आदि अवश्य साथ लाना चाहिए।

मन्त्री—योग-साधन आश्रम
रेलवे रोड, ऋषिकेश (उ०प्र०)

आश्रम समाचार—

प्रभुजी की जयन्ती का भव्य-समारोह

दिनांक ३१ मार्च तथा १ व २ अप्रैल ८२ को अनन्त श्री योग-योगेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की जयन्ती का भव्य समारोह प्रातः स्मरणीय सद्गुरुदेव अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज की अध्यक्षता में मनाया गया। जिसमें सदा की भांति देश के सभी प्रदेशों में फैले हुए आश्रम के शाखा-संगठनों से सम्बन्धित हजारों गुरुभाई, बहनों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। सामूहिक आरती महिला संकीर्तन, योगासन-प्रदर्शन और योग-सम्बन्धी महत्वपूर्ण प्रवचनों की धूम रही। श्री गुरुदेव जी के तथा जम्मू काश्मीर के सुविख्यात के योगी श्री हरिभक्त जी चैतन्य जो श्री गुरुदेव जी के प्रिय शिष्य हैं—के प्रवचन बहुत ही सराहनीय रहे। अन्तिम दिन कई सौ नवीन साधकों ने योग-दीक्षा ग्रहण की और कई हजार दीक्षित शिष्यों एवं योग-साधकों ने अपने आराध्य श्री गुरुदेव जी का अतीव श्रद्धा एवं आदर से पूजन किया।

दूसरे दिन विद्वान् वेदज्ञ पण्डित मण्डली ने पुरुष सूक्त के पाठ के साथ भण्डारे के सहभोज का शुभारम्भ किया। समारोह की सभी व्यवस्था अति सराहनीय रही।

आगन्तुकों के आवास एवं भोजन की सभी व्यवस्था आश्रम की ओर से सदा की भांति निःशुल्क की गई। अनेक भूतपूर्व राज्य एवं केन्द्र के मन्त्री भी समारोह में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने आये थे।

—एक दर्शक

सिद्ध योग

वर्ष १५
अङ्क २

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थान् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः'॥

मई
१९८२

卐 धन्यास्ते मनीषिणः 卐

चित्त भूमौ प्रयत्नेन पोषितैर्व निरन्तरम् ।
सद्विचारकृषिः कृष्टि संस्कृतिर्वा मताबुधैः ।
अक्षय्यममृतं पुण्यं दिव्यानन्देन संयुतम् ।
तत्फलं तेन धनिनस्ते धन्यास्ते मनीषिणः ॥

अर्थात्

चित्तरूपी भूमि में निरन्तर प्रयत्नपूर्वक पोषित की गई सद्विचारों की कृषि को विद्वान लोग 'कृष्टि' अथवा 'संस्कृति' समझते हैं।

सद्विचारों की कृषि का फल अक्षय्य, अमृत, पवित्र और दिव्य आनन्द से युक्त होता है। उस फल से जो धनी हैं वे धन्य हैं, वे मनीषी हैं। अभिप्राय यह है कि लोक प्रसिद्ध कृषि से मनुष्यों को साधारण धान्यादि की प्राप्ति होती है किन्तु चित्त-भूमि पर सद्विचारों के बीज वपन से अक्षय्य आनन्द की प्राप्ति होती है।

हमारा विशेष लेख—

卐 सिद्धों की परिभाषा

❀ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वैयाकरणों की व्युत्पत्ति के अनुसार सिद्ध-शब्द की परिभाषा निम्नाङ्कित शब्दों में की गई है—

कर्तुमकर्तुं अन्यथा कर्तुं शक्तः शैवसिद्धः

अर्थात् जो सब कुछ करने की सामर्थ्य वाला हो और किसी काम के कर देने पर उसके मन में आये तो उसको फिर विपरीत कर दे और विपरीत कर देने पर भी उसको मानसिक प्रसन्नता हो तो फिर उसे ही दुबारा पूर्ववत् कर डाले—उसको सिद्ध कहते हैं। इस बात को समझने के लिये तुलसीकृत रामायण में कागभुसुण्डि जी का एक उपाख्यान मिलता है। कागभुसुण्डि भगवान् शिव के एक मन्दिर में उनकी आराधना एवं तपश्चर्या करते थे। किन्तु उनके मन में भगवान् शिव एवं भगवान् नारायणके प्रति द्वैत बुद्धि बनी रहती थी। वह समझता था कि भगवान् सदाशिव परात्पर परब्रह्म हैं, उनसे बढ़कर कोई नहीं है, नारायण आदि सभी देवता उनके सेवक है। उसकी अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् शिव को परात्पर मानना तो बिल्कुल उचित ही था, क्योंकि साधक को चाहिये कि वह अपने इष्ट में सबसे ऊँची भावना ही रखे। कागभुसुण्डि के मनमें यही भावना भरी हुई थी। शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

मन्नाथस्त्र जगन्नाथमद्गुरु त्रिजगद्गुरुः

अर्थात् मेरे इष्टदेव संसार के इष्टदेव हैं और वे परात्पर है, उनसे बढ़कर कोई नहीं है और मेरे गुरुदेव त्रिलोकी से बढ़कर नहीं है शिव से बढ़कर कोई नहीं। वे ही तीनों लोकों के गुरु है। किन्तु दूसरे देवों के लिये ऐसी भावना रखना ठीक नहीं। कागभुसुण्डि भगवान् शिव के प्रति परात्पर परब्रह्म की भावना रखता ही था किन्तु उनके अलावा अन्य किसी की प्रशंसा का एक भी शब्द किसी से सुनना पसन्द नहीं करता था। उसके गुरुदेव यह चाहते थे कि मेरे इस बच्चे के अन्दर से यह क्षुद्र बुद्धि हट जाय, इसलिये वे बार-बार उपदेश करते थे और उससे कहा करते थे कि हे पुत्र! सुनो भगवान् विष्णु और भगवान् शिव दोनों एक ही वस्तु हैं। शास्त्र ने कहा है—

शिवस्य हृदयं विष्णु,
विष्णोर्हृदयं सदाशिवः ।
ईष्दय्य अन्तरं ज्ञात्वा,
रोरवं नरकं व्रजेत् ।।

अर्थात् विष्णु का हृदय भगवान् शिव का हृदय है और शिवका हृदय भगवान् विष्णु का हृदय है। दोनों एक ही है अलग नहीं है। इन दोनों में जो भी भेदभाव देखता है वह रौरव नरक को जाता है। इस प्रकार का उपदेश कागभुसुण्डि के गुरुदेव उसको अपना बच्चा जानकर अपने ममत्व से प्रायः करते ही रहते थे, किन्तु यह उपदेश कागभुसुण्डि को बिल्कुल नहीं रुचता था। वह गुरुवर के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर मन ही मन बहुत अधिक चिढ़ता रहता था एवं जिस समय में भी वे गुरुदेव उसके पासआते वह उनसे अप्रसन्न होकर, पीठ फेर करके बैठ जाया करता था। उसकी यह आदत भगवान शिव को भी अच्छी नहीं लगी। अन्ततः उन्होंने उसको श्राप दे दिया और कहा कि—रे मूर्ख ! तू गुरु को पीठ देकर मेरी उपासना करता है यह तेरा प्रयास गलत है, इसलिए तू चौरासी लाख योनियोंको भोग।चौरासी लाख योनि भोग लेने के बाद जब तेरा अंतःकरण शुद्ध हो जायगा तभी तू मेरी कृपा का अधिकारी बन पायेगा। यह श्राप कागभुसुण्डि के गुरुदेव ने भी सुना और अपने बच्चे के लिये इतना कठोर दण्ड सुनकर उनके मन में बहुत ही दुःख हुआ। उन्होंने एकाग्र मन से भगवान शंकर की बहुत ऊँची स्तुति की, जिसे सुन करके भगवान शंकर बहुत ही प्रसन्न हुये और उन्होंने उस ब्राह्मण गुरु से वर मागने को कहा। ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि हे प्रभो ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न है तो मेरे शिष्य को क्षमा कर दें और आपने जो कठोर दण्ड दिया है वह विपरीत होकर मिथ्या हो जाय। भगवान शंकरने उत्तर दिया कि हे विप्रवर ! मेरा वचन मिथ्या तो नहीं हो सकता, कम से कम इसको एक हजार जन्म तो लेने ही पड़ेंगे। पर जिस-जिस भी योनि में यह जायेगा, उस-उस योनि में इसको दुःख की अनुभूति नहीं होगी। इस प्रकार से ब्राह्मण पर प्रसन्न हो भगवान शंकर ने कागभुसुण्डि के श्राप की निवृत्ति कर दी।

यदि विचार कर देखा जाय तो जब किसी जीवात्मा को जन्म-मरण के दुःख की अनुभूति होगी नहीं तब उसे मिला अभिशाप समाप्त ही समझा जायेगा। जैसे जेल में रह करके जेली लोग तो दण्ड भोगते है, किन्तु उसी जेल में रहने वाले जेलके जेलर या अन्य ऊँचे अधिकारी जेलका दण्ड नहीं भोगते। और न वे लोग जेली (बन्दी) कहलाते हैं। इस प्रकार से कागभुसुण्डि की श्राप-निवृत्ति गुरु-कृपासे हो हो गई थी। यह जिस-जिस योनि में गया, उस-उस योनि में कोई दुःसह दुःख उसे हुआ ही नहीं। और यह भी उल्लेखनीय है कि शिष्य का अभिशाप गुरुदेव से पीठ देकर

भजन करने के कारण एवं भगवान विष्णु से ईर्ष्या-बुद्धि होनेके कारण हुआ। इसी का नाम 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं शक्तः' हुआ करता है। यहां यह उदाहरणपूर्वक सिद्ध की परिभाषा है। सिद्ध लोगों का यह सामर्थ्य होता है कि वे अपनी शक्ति से जैसा भी अनुकूल या विपरीत चाहें हो जाय, करता है।

भगवान विष्णु के विविध चरित्रों में भी पुराणों में इस प्रकार की कथाएँ मिलती हैं। एक बार नारद मुनि वैकुण्ठ में गये। भगवान विष्णु ने उनको देखकर उनका स्वागत किया और कहा—हे मुनि! तुम तपस्वी तो बहुत ऊँचे हो, किन्तु यह बतलाओ कि तुमने कोई गुरु भी बनाया है या नहीं? नारद मुनि ने उत्तर दिया कि महाराज! मैंने अभी तक कोई भी गुरु नहीं बनाया है। इस पर भगवान विष्णु ने नारद को निगुरा देख करके स्पष्ट कह दिया कि—नारद यदि तुम गुरु नहीं बनाओगे तो तुम्हें चौरासी लाख योनियां भोगनी ही पड़ेंगी, इसलिये तुम कोई गुरु अवश्य बनाओ। नारद ने कहा कि महाराज! मैं किसको गुरु बनाऊँ। भगवान विष्णु ने उत्तर दिया कि तुम मर्त्य लोक को चले जाओ और वहां जाकर जो व्यक्ति तुम्हें पहले मिल जाय उसी को तुम गुरु बना लेना। विष्णु भगवान की ऐसी आज्ञा लेकर वे भू-मण्डल पर आये और भू-मण्डल पर आते ही उन्होंने देखा कि हाथ में मच्छी पकड़े हुए एक मछियारा सामने से आ रहा है। उसको देखकर नारद मुनि ने कहा—महाराज! आप मेरे गुरु हैं। मछियारे ने उत्तर दिया—नारायण-नारायण! हे मुनि! हम आपके गुरु कैसे हो सकते हैं! हम तो रात-दिन मच्छियाँ मारते हैं और इसी व्यापार से अपना पेट-पालन करते हैं, हम आपके गुरु बनने के अधिकारी नहीं। आप किसी और विद्वान ऋषि-मुनि को अपना गुरु बनाइये। मछियारे के ऐसे वचन सुन करके नारद मुनि पुनः लौटकर वैकुण्ठ में आये। वहां आने पर विष्णु भगवान ने उनसे पूछा कि कहो नारद जी! तुमने गुरु बनाया या नहीं? नारद ने उत्तर दिया—हां महाराज! मैं गुरु तो बना आया हूँ, किन्तु गुरु पापी मिला है। नारद मुनि के इस प्रकार के शब्दों को सुन करके विष्णु भगवान ने उत्तर दिया कि हे नारद! गुरु और पापी ये दोनों बातें एक साथ कैसे? नारद! तुमने गुरु के लिये पापी शब्द का प्रयोग किया है, अब तो तुम्हें चौरासी लाख योनियां भोगनी ही पड़ेंगी। अतः जाओ और चौरासी लाख योनियों को भोगो। नारद मुनिने पुनः प्रार्थना की कि—हे प्रभो! मुझे आपने चौरासी लाख योनियां भोगने का श्राप तो दे दिया, किन्तु चौरासी लाख योनियों से छूट जाने का कोई उपाय नहीं बतलाया—इसलिये इनसे छूटने का भी कोई उपाय बतला दीजिये। भगवान विष्णु ने कहा कि हे मुनि! इसका उपाय भी तो तुम्हारे गुरु ही बता देंगे। नारद मुनि

भगवान विष्णु का आदेश सुन करके पुनः अपने उसी मछियारे गुरु के पास गये और जा करके उन्हें सब हाल बताकर चौरासी लाख योनियों से छूट जाने का उपाय पूछा। मछियारे गुरु ने उत्तर दिया कि हे नारद! जाओ तुम बैकुण्ठ लोक में जाकर विष्णु भगवान से कहना कि वे चौरासी लाख योनियों के नाम लिखकर बता दें और जब वे नाम लिख दें, तो उनके लिखे हुये नामों के ऊपर लेट जाना। बस! इतना करने मात्र से तुम्हारी चौरासी लाख योनि छूट जायेंगी। नारद मुनि ने ऐसा ही किया। बैकुण्ठ में जा करके विष्णु भगवान से कहा कि महाराज! आप एक बार चौरासी लाख योनियों के नाम लिखकर मुझे दीजिये। भगवान विष्णु ने सर्व शक्तिमत्ता से वे सभी नाम तत्काल लिखकर दे दिये। नारद मुनि उनके ऊपर लेट गये। नारद को इस प्रकार लेटते हुए देखकर विष्णु भगवान ने कहा—नारद! यह क्या कर रहे हो? नारद ने उत्तर दिया—महाराज! मेरे गुरुदेव ने मुझे चौरासी लाख योनियों से छूटने का यही उपाय बतलाया है। विष्णु भगवान नारद मुनि की यह बात सुनकर हँस पड़े और कहा कि देखो नारद! यह है गुरु की शक्ति! उन्होंने हमारे दिये हुए श्राप को भी एकदम मिथ्या कर दिया। इसी शक्ति का नाम "कर्तुं अकर्तुं कर्तुं" की शक्ति है, यही सिद्धों का परिभाषा है।

श्री आनन्दकन्द प्रभुजी जो परम सिद्ध-अनादि सिद्ध हैं, वे अपने नैपाल-धामके चरित्रों के प्रसंग में एक घटना बतलाया करते थे, वह घटना भी "कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं" की सर्वथा प्रतीक है। आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने (मेरे गुरुदेव जी ने) नैपाल-हिमालय की आंखों देखी वह घटना बतलाई, जो इस प्रकार है—एक बार वहां पर हमारे दादा गुरु सदाशिव स्वरूप अति वृद्ध ऋषि जो कि छः महीने में एक बार समाधि से उठते हैं के सामने उस वनखण्ड की सभी ऋषि-मण्डली इकट्ठी हुयीं और सत्संग होने लगा। उस सत्संग में चर्चा चली कि एक सर्व समर्थ योगी को क्या चाहिये। वह अपने साथ कर्मबन्धन में फँसकर आने वाले जीवों के संस्कार का कुछ भुगतान करे या अपनी योग शक्ति से अपने साथ लगे हुये उनके संस्कारों को काट दे। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है कि—

भिद्यते हृदय ग्रन्थि,
छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयते चास्य कर्माणि,
तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

अर्थात् उस सर्व व्यापक परमात्मा के परावर दर्शन कर लेने के बाद मनुष्य की हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है एवं सारे संशयों का नाश हो जाता है। कर्म-बन्धन क्षय हो जाते हैं। परावर दर्शन प्राप्त योगी के लिये यह काम

बिना ही किसी प्रयास के स्वतः ही बन जाया करता है। इसलिये इस काम के लिए उनको कुछ भी प्रयत्न करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इस पर एक दूसरे पूर्ण सिद्ध महात्मा योगिराज जी ने उत्तर दिया कि जिन लोगों के साथ अभी तक इस बन्धन में चले आये हैं उनका भुगतान कर दिया जावे अर्थात् अपनी आत्म-शक्ति से उनका कुछ भला कर दिया जावे वह उत्तम ही है। इनकी बात को सुनकर उस दूसरे पांच सौ साल वाले ऋषि ने क्रोध में आकर उनको श्राप दे दिया कि तुम तो चौरासी लाख योनि भोगने लायक थे। चौरासी लाख योनि भोग लो, यहां आये ही क्यों ? उस ऋषि की इस धृष्टता को देखकर हमारे दादा गुरु श्री महाप्रभु जी ने उसको कहा कि इसकी चौरासी लाख योनि को तो हम देखेंगे कि क्या करना है, किन्तु तुम अभी नीचे उतर जाओ, क्योंकि इतनी ऊँची परिपूर्णता को पाकर भी तुमने अभी तक क्रोध का परित्याग नहीं किया है। श्री महाप्रभुजी के ऐसा कहने पर वह ऋषि उसी समय नीचे उतर गया। उसको नीचे उतरा देखकरके एक दूसरे ऋषि ने महाप्रभुजी के चरणों में प्रार्थना की कि महाराज ! यह ऋषि तो आपके अभिशाप से तत्काल नीचे उतर गया, किन्तु ये दूसरे ऋषि जिनको कि चौरासी लाख योनिका श्राप मिला है, उनका क्या होगा ? श्री महाप्रभुजी ने उत्तर दिया--वह सब काम हम अभी किये देते हैं। श्री महाप्रभुजी ने उन श्रापित ऋषि को आज्ञा दी कि तुम थोड़ा देर ध्यान में बैठ जाओ। वह ऋषिराज थोड़ी देर समाधि में बैठ गये। उस समाधि अवस्था में उन्होंने देखा कि वे एक-एक क्षण के अन्दर हजारों पशु-पक्षी आदि की योनियों में से निकलते हुए आ रहे हैं। इस प्रकार श्री महाप्रभुजी ने उनकी एक घण्टे की समाधि के अन्दर ही पूरी चौरासी लाख योनियों का भुगतान भुगताकर पूरा करा दिया। अर्थात् उनकी चौरासी लाख योनि एक घण्टे में निबट गयीं। अब उनके लिये कोई भोग बाकी नहीं रहा और वह ऋषिराज अपने शुद्ध ब्रह्मतत्व में ही ज्यों के त्यों लीन रहे। उनके ऐसे भुगतान कर लेने के बाद एक दूसरे ऋषि ने प्रश्न किया कि—महाराज ! आपने इनकी तो निष्कृति कर दी, किन्तु जिस ऋषि को आपने नीचे उतर जाने का श्राप दिया है, उसका क्या होगा ? उस पर भी कृपा होनी चाहिये। श्री महाप्रभु जी ने उत्तर दिया कि हां उसके लिए भी ठीक हो जायेगा। उसको नीचे उतरने मात्र का श्राप है, वह अब नीचे उतर आया। नीचे उतरकर अब फिर ऊपर चला जायेगा और वह भी अपनी पूर्व स्थितिमें ही स्थित रहेगा। उनके इस अभिशाप की निवृत्ति नीचे उतरने मात्र से हो गई। अब उसके ऊपर भी कोई श्राप लागू नहीं है। अब वह अपनी पूर्ववत् स्थिति में आने के बाद जैसा का तैसा सिद्ध योगिराज ही बना रहेगा। इसी का नाम है "कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं, सर्वथा शक्तः सेव सिद्धः" यही सिद्ध शब्द की परिभाषा है।

卐 कुरुक्षेत्र में योग-प्रचार—

❀ ब्रह्मचारी श्री दासलाल शर्मा

दिनांक २१ फरवरी से २ मार्च तक श्री गुरुदेव जी का योग-प्रचार कार्यक्रम कुरुक्षेत्र कृष्ण-धाम पर चल रहा था। आदरणीया बहिन वेदवती जी ने सब आने वाले गुरु-भाई-बहनों के आहार व आवास की बहुत ही सुन्दर व्यवस्था की थी। उन्होंने किसी को भी किसी प्रकार का अभाव महसूस न होने दिया। इस प्रकार उन्होंने इस महान कार्य को सम्पन्न कराकर विपुल पुण्यार्जन किया।

इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सायंकाल ५ बजे तक श्रद्धेया उमा बहिन जी का कथोपदेश होता रहा। इसमें उन्होंने आनन्दकन्द श्रीकृष्ण-चन्द्र की योगमय लीलाओं का संगीत बद्ध वर्णन किया। उनकी यह लीला कथायें मनोहारी एवं मन्त्र-मुग्ध करने वाली थीं।

श्री सद्गुरु भगवान ने इस कार्यक्रम में जो योगोपदेश अमृत वर्षा की उसका सारभूत निम्न प्रकार से है—

'योग साधक के लिए शास्त्रीय साधनाक्रम पर प्रकाश डालते हुये वे बोले—

इन्द्रियाणि पराण्याहु-
रिन्द्रियेभ्यः परं मन ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो-
बुद्धे परतस्तु सः ॥

अर्थात् पहले योगी इन्द्रियों का साक्षात्कार करे तब मन का साक्षात्कार करे, तदनन्तर बुद्धि का साक्षात्कार करे और फिर आत्मा का साक्षात्कार करे। इस प्रकार इस साधना-क्रम से योगी उच्च-उच्च भूमिकाओं को प्राप्त करे। परन्तु इस प्रकार की साधना प्रायः दुष्कर पड़ जाती है हर व्यक्ति इसे नहीं कर सकता। योग-योगेश्वर आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने इस अवनि मण्डल पर अवतरित होकर अपने संस्कारी बालकों के लिए बहुत ही सरल पद्धति बताई वह पद्धति है मनोलय की। इससे पद्धति का उपदेश अपने बालकों को उन्होंने दिया। योगदर्शन में सूत्र आता है—'वीतराग विषयं वा चित्तम्। अर्थात् जो वीतरागी हैं, उनमें चित्त लगाने से मन की एकाग्रता प्राप्त होती है। वीतराग पुरुष वह है जिन्होंने आत्म-साक्षात्कार कर लिया है। इसमें दो प्रकार के सिद्ध आते हैं एक अनादि सिद्ध भगवान शंकर भगवान विष्णु आदि-आदि ये अनादि सिद्ध हैं दूसरे प्रकार के सिद्ध वह हैं जो अपने तीनों बन्धनों को काटकर कैवल्य-लाभ प्राप्तकर चुके हैं। इन सिद्धों के मन में मन, बुद्धि में बुद्धि, चित्त में चित्त एवं अहंकार में अहंकार मिला देने पर तद्रूपता आ जाती है। तब शिवोऽहम्

वाली स्थित प्राप्त हो जाती है। उसका अपना अस्तित्व समाप्त प्रायः हो जाता है।

तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि।

अर्थमात्र को निर्भासित करने वाला अपने रूप से भी रहित सा 'ध्यान' ही समाधि है।

अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन से पूछा—हे अर्जुन ! क्या तू मुझ में मिलना चाहता है ? संसार में ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो श्रीकृष्णचन्द्र में न मिलना चाहता हो। भगवान् ने अर्जुन से कहा, यदि तू मिलना चाहता है तो—

मय्येव मन आधत्स्व,
मयि बुद्धि निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव,
अत उर्ध्वं न संशयः ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! तू मुझमें ही मन को लगा तथा मुझमें ही बुद्धिको लगा। इस प्रकार करने से तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

हमारा मन ही मोक्ष व बन्धन का कारण है—

मनैव मनुष्याणाम् कारणम् बंध मोक्षयोः

इस मन को अपने इष्टदेव में लय करके ही हम शाश्वत शान्ति की ओर चल सकते हैं। इस प्रकार इष्टदेव में मन को लय करने पर हमें अनायास ही उनकी समस्त शक्तियां प्राप्त हो जाएंगी, करी-कराई कमाई हमें मिल जायेगी।

दूसरा प्रकरण जो सद्गुरुदेव जी ने बालकों को समझाया, वह था—

ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा,
कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी,
समलोष्टाश्मकांचनः ॥

दो प्रकार के योगी होते हैं—युञ्जन योगी तथा युक्त योगी। युञ्जन योगी वह होता है, जो यम, नियम, आसन, प्राणायामादि का क्रम से अभ्यास करता हुआ समाधि की ओर बढ़ रहा है। तथा दूसरा वह होता है युक्त योगी जिसने प्रकृति और पुरुष को जान लिया है तथा जो अपने स्वरूप में अवस्थित है।

ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा कौन होता है जो योगी प्रकृति के सारे विश्लेषणों को समझ कर उन पर अपना अधिकार कर लेता है। उस समय उसका इन पञ्च महाभूतों पर पूरा-पूरा अधिकार होता है। यह सृष्टि पञ्चभौतिक है। "परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।" अर्थात् योगीका वशीकार परमाणुसे लेकर मूल प्रकृति पर्यन्त होता है। ज्ञान-विज्ञान तृप्तात्मा का उदाहरण देते हुए सद्गुरुदेव जी ने श्यामबिहारी शुक्ल का जिक्र किया। ये हमारे गुरुभाई थे। श्रीचरणों से योग-दीक्षा प्राप्त की थी। तदनन्तर जंगलों में जाकर साधना करते रहे। उनमें चित्त निर्माण व काय निर्माण की सामर्थ्य आ गई थी। योगी जब सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम भूमिका में पहुँच जाता है

(शेष पृष्ठ ४८ पर पढ़िये)

नाड़ी शुद्धि एवम् कुण्डलिनी प्रबोध

श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

मानव-शरीर नाड़ियों का ढांचामात्र है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म ७२००० नाड़ियां हैं इन नाड़ियों पर ही यह शरीर-रूपी यन्त्र टिका हुआ है तथा इसके सभी अङ्ग सक्रिय हैं। शरीर के सभी अङ्गों में रुधिर संचार तथा मलमूत्र विसर्जन से लेकर प्राणवायु का संचार तक इन नाड़ियों से होता है। इनमें चौदह नाड़ियां प्रमुख हैं, जिनका सम्बन्ध कुण्डलिनी महाशक्ति के साथ है।

कुण्डलिनी सारे संसार की आधारभूत तथा मानव शरीर में स्थिति जीवन अग्नि है। शास्त्रों में इसे ब्राह्मी शक्ति कहा गया है। यह शक्ति ही जीव के बन्धन और मोक्ष का कारण है। कुण्डलिनी का स्वरूप क्या है तथा वह किस प्रकार जीव को मोक्ष प्रदान करती है इस बात की जानकारी के लिये नाड़ी विज्ञान को जान लेना आवश्यक है। उपनिषदों में इस विषय को सविस्तार समझाया गया है। शाण्डिल्योपनिषद में शाण्डिल्य जी महाराज महर्षि अथर्वा से शरीर-विज्ञान पर जिज्ञासा प्रकट करते हुए निवेदन करते हैं:—

केनोपायेन नाड्यः शुद्धाःस्युः। नाड्यः कतिसंख्याताः। तासामुत्पत्तिः कीदृशी। तासु कतिवायवस्तिष्ठन्ति। तेषां कानि स्थानिन। तत्कर्माणि कानि। देहे यानि यानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहि।

अर्थात् किस उपाय से नाड़ियां शुद्ध होती हैं, उनकी संख्या कितनी है, उनकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई। उनमें कितने वायु रहते हैं, उनका काम क्या है? शरीर में जो-जो जानने लायक हैं वह सब मुझे बतलाइये। इस पर महामुनि अथर्वा जी महाराज कहते हैं:-मनुष्य का शरीर उसकी अंगुलियों से ९६ अंगुल प्रमाण का होता है। शरीर के मध्य भाग में अग्नि का स्थान है जो कि त्रिकोण आकार का और तपाये हुए सोने के समान कान्ति वाला है। गुदा से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से दो अंगुल नीचे मनुष्य शरीर का मध्यभाग होता है। उसमें नाभि है और उसमें बारह अरे वाला चक्र है। उस चक्र के बीच में पुण्य-पाप से प्रेरित हुआ जीव फिरता रहता है। कन्द के नीचे और ऊपर कुण्डलिनी का स्थान है। उसके चारों ओर चौदह प्रमुख नाड़ियां हैं। जैसे:—

मध्यस्थ कुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्याः नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति-इडा, पिंगला,

सुषुम्ना, वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुसा, गान्धारीति चतुर्दश नाड्यः भवन्ति। तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते। गुदस्य पृष्ठभागे वीणा-दण्डाश्रिताः मूर्ध्नपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रेति विज्ञेयाव्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति।

मध्य में स्थित कुण्डलिनी का आश्रय लेकर रहने वाली चौदह प्रमुख नाड़ियां है, इनमें सुषुम्ना विश्व को धारण करने वाली और मोक्ष का मार्ग रूप है। गुदा के पिछले भाग में वह वीणा दण्ड के समान रहती है और मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। यह अव्यक्त, सूक्ष्म, वैष्णवी शक्ति है।

त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद में कन्द स्थान से निकली हुई सुषुम्नादि दस नाड़ियों का तथा प्राणादि दश वायु का स्थान और कार्य का वर्णन करते हुए कहा गया है:—

कन्दमूलेस्थिता नाडी
सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता।
पद्मसूत्रप्रतीकाशा
ऋजुरूर्ध्वं प्रवर्तिनी॥
ब्रह्मणोविवरं याव-
द्विद्युदाभास सन्निभम्।
वैष्णवी ब्रह्मनाडी च
निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः॥
इडा च पिंगला चैव
तस्या सव्येतरे स्थिते।
पिंगला चोत्थिता तस्मा-
दक्षनासापुटावधि॥
गन्धारी हस्तिजिह्वा च
द्वे चान्ये नाडिके स्थिते।
पुरतस्पृष्ठतस्तस्याः
वामेतर दृशौ प्रति॥
पूषा यशस्विनी नाड्यौ
तस्मादेव समुत्थिते।
सव्येतर श्रुत्यवधि पायु-
मूला चालम्बुसा॥
अधोगता शुभा नाडी
मेढ्रान्तावधिरायता।
पादांगुष्ठावधि कन्दाधो याता
सा च कौशिकी॥
दशप्रकार भूतास्ता
कथिताः कन्दसम्भवाः।
तन्मुखा बहवो नाड्यः
स्थूला सूक्ष्माश्च नाडिकाः॥
द्वासप्तति सहस्राणि
स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाड्यः।

कन्द के मध्यभाग में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। वह पद्मसूत्र के समान अत्यन्त सूक्ष्म है और सीधी ऊपर की तरफ गई है। ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाली यह वैष्णवी ब्रह्मनाड़ी बिजली के समान प्रकाशयुक्त और और मोक्षदायिनी है। इसके अगल-बगल में इडा और पिंगला नाड़ियां स्थित है। इडा कन्द से निकल

कर बांये नासापुट तक गई है और पिंगला दांये नासापुट तक। गान्धारी और हस्तिजिह्वा नामक दो अन्य नाड़ियां भी वहां स्थित हैं जो कि उनके आगे-पीछे बांयीं और दांयीं आंख तक गई हैं। पूषा और यशस्विनी ये दो नाड़ियां गुदामूल से निकल कर दांये और बांये कान तक गई है। अलम्बुसा नामक नाड़ी लिंग स्थान के अन्त तक नीचे की ओर गई है। कन्द स्थान से पैर के अंगूठे तक कौशिकी नामक नाड़ी गई है। इस प्रकार ये दश नाड़ियां कन्द-स्थान अर्थात् मूलाधार के पास से निकली हुई हैं। उनसे निकलने वाली अन्य बहुत सी स्थूल और सूक्ष्म नाड़ियां हैं जिनकी संख्या बहत्तर हजार कही गई है।

इस प्रकार शरीर-स्थित ७२००० नाड़ियों में सुषुम्नादि दश नाड़ियों का विशेष महत्व है। इन दश नाड़ियों में दश प्रकार की वायु संचरण करती रहती है। वे दश वायु कौन से हैं और उनका क्या कार्य है, यह बताते हुए उपनिषद् में कहा गया है—

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय। ये दस वायु इन नाड़ियों में चलते रहते हैं। प्राणवायु का स्थान—

मुख तथा नासिका का मध्य भाग, हृदय, नाभि-मण्डल और पैर का अंगूठा इन अंगों में प्राणवायु रहा करती है।

अपान वायु—गुदा, मेढ़ू और जंघा में रहता है।

समान वायु—सब अंगोंमें व्याप्त रहता है।

उदान वायु—सभी सन्धि स्थानों और हाथ-पैरों में रहता है।

व्यान वायु—कान, जंघा, कमर, एड़ी, कन्धे और गले में रहता है।

नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय ये पांच प्रकार के वायु त्वचा तथा हड्डी आदि में रहते है।

शाण्डिल्योपनिषद में प्राणादि वायुओं का कार्य इस प्रकार बतलाया गया है—

पेट में रहने वाले जल और अन्न को रस आदि के रूप में ले जाकर उन्हें पृथक्-पृथक् करना प्राणवायु का कार्य है। प्राणवायु आमाशय में स्थित अन्न-जल को अपान वायु की सहायता से पचाता है। इसके अतिरिक्त सांस लेना, उच्छ्वास छोड़ना तथा खांसना आदि क्रिया प्राणवायु ही कराता है। शरीर के नौ छिद्रों द्वारा मल-मूत्र का विसर्जन अपान वायु का कार्य है। प्राण और अपान की क्रियायें व्या वायु के योग से होती हैं। उदान वायु प्राण को ऊपर ले जाना है। शरीर का पोषण करना समान वायु का कार्य। आंख की पलक झपकना कूर्म वायु की क्रिया तथा भूख-प्यास लगना कृकर वायु का कार्य है।

देवदत्त वायु तन्द्रा और आलस्य पैदा करता है। मृत शरीर की शोभा रखना धनञ्जय वायु का काम है।

उपनिषद में आगे कहा गया है :—

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तेषां कार्यं च सम्यक् ज्ञात्वा नाडीसंशोधनं कुर्यात् ।

अर्थात् इस प्रकार नाड़ी स्थान, वायु स्थान तथा उनके कार्य को भली प्रकार समझ कर नाड़ियों का शोधन करना चाहिये।

नाड़ी शुद्धि का साधन अष्टांगयोग ही है। अष्टांगयोग में भी यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चार अङ्ग प्रमुख हैं। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद में कहा गया है :—

यमैश्च नियमैश्चैव,
आसनैश्च सुसंयतः ।
नाड़ीशुद्धिं च कृत्वाऽऽदौ,
प्राणायामं समाचरेत् ॥

अर्थात् यम, नियम और आसनों द्वारा पहले भली प्रकार से नाड़ियों की शुद्धि कर लेनी चाहिए। उसके बाद ही साधक प्राणायाम का अभ्यास करे।

जाबाल दर्शनोपनिषद में नाड़ी शुद्धि के निम्नलिखित चिह्न बताये गये हैं—

नाड़ीशुद्धिं मवाप्नोति,
पृथक् चिह्नोपलक्षितः ।
शरीर लघुता दीप्ति,-
र्वह्निर्जठर वर्तिनः ॥
नादाभिव्यक्तिरित्येत-
च्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ।

नाड़ी शुद्धि के ये प्रत्यक्ष लक्षण साधक के अन्दर दिखाई देने लगते हैं। जैसे शरीर का हल्का हो जाना, उसमें आलस्य का नामोनिशान न रहना, जठराग्नि का उद्दीप्त होना तथा अनाहत नाद का सुनाई देना ये लक्षण सिद्धि के सूचक हैं।

कुण्डलिनी की स्थिति

कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार के पास कन्द स्थान में है। वह महाशक्ति कमल के कन्द के समान अपनी पूँछ को अपने ही मुख में डालकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को ढककर सोती रहती है। जागृत हो जाने पर वही शक्ति षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार चक्र पहुँच जाती है और साधक को योग-सिद्धियों स्वामी बनाकर अन्त में उसे मोक्ष प्राप्ति करा देती है।

योगचूडामणि उपनिषद में महाशक्ति कुण्डलिनी का वर्णन करते हुए कहा गया है—

कन्दोर्ध्वं कुण्डलशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्यतिष्ठति ॥
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद् द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह।
सूचिवद् गात्रमादाय व्रजत्युर्ध्वं सुषुम्नया ॥
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम्।
कुण्डलिन्या तथा मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥

कन्द के ऊर्ध्व भाग में कुण्डलिनी शक्ति आठ कुण्डलों से व्याप्त है और वह वहीं पर अपने मुख से ब्रह्मद्वार के मुख को ढककर स्थित रहती है। जिस ब्रह्मद्वार के मार्ग से जीव को निष्पाप होकर जाना पड़ता है उसी द्वार को अपने मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति सोई हुई है। वह्नियोग से जागृत होकर वह मन और प्राण सहित सुषुम्ना में होती हुई सुई के समान ऊपर की ओर चलती है। जिस प्रकार घर का दरवाजा कुञ्जी द्वारा खोला जाता है, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी शक्ति द्वारा मोक्ष का दरवाजा खोले।

कुण्डलिनी प्रबोध के लिए यह आवश्यक है कि योगाङ्गों का दृढ़ता से पालन करता हुआ नाड़ी शुद्धि के लिए प्रयत्नशील रहे। यम, नियम, आसन और प्राणायाम इन चार अङ्गों का पालन करने से ही चित्तशुद्धि तथा नाड़ियों की शुद्धि हुआ करती है। साधक को सर्वप्रथम यम-नियमों का पालन करते हुए अधिकाधिक समय तक किसी एक आसन से बैठने का अभ्यास करना चाहिये। निरन्तर अभ्यास करने से आसन सिद्ध हो जाता है, जिससे नाड़ियां शुद्ध हो जाती हैं। तदनन्तर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए अथवा अजपा-गायत्री (श्वास-प्रश्वास से मन्त्र-जप) का अभ्यास करना चाहिए।

योगकुण्डल्युपनिषद में कुण्डलिनी प्रबोध की प्रक्रिया बताते हुए कहा गया है :—

विधिपूर्वक प्राणायाम का अभ्यास करने से जब अपान वायु ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो उसके प्रभाव से अग्नि की तीव्रता बढ़ जाती है। उस ज्वाला से सन्तप्त होकर सोई हुई कुण्डलिनी जागृत होती है और डण्डे से मारी जाने वाली सर्पिणी के समान फुङ्कार करती हुई सीधी हो जाती है। तब यह सर्पिणी के बिल में प्रवेश करने की रीति से सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर चली जाती है। इस प्रकार सुषुम्ना (ब्रह्मनाड़ी) का मुख खुल जाता है। रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्म-ग्रन्थि को भेदकर यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना के के अन्दर बिजली के करंण्ट की तरह चढ़ती है और तब यह बड़ी शीघ्रता से हृदय-स्थित विष्णुग्रन्थि को पार करती हुई और भी ऊपर आज्ञाचक्र में पहुँचती है और वहां रुद्रग्रन्थि को प्राप्त होती है। वहां से वह भौंहों के मध्य स्थान को भेदती हुई चन्द्रमा के स्थान में पहुँचती है। वह चन्द्र-मण्डल में जाकर वहां के द्रव-पदार्थ का शोषण कर लेती है और उसे उष्ण कर देती है। वह चन्द्रमा के क्षुब्ध रस को तप्तकर देती है और क्षुब्ध होती हुई ऊपर

चढ़ती है। इसके प्रभाव से चित्त जो पहले बाहरी पदार्थों में संलग्न रहता था वह परमार्थ में लगकर आत्मानन्द का उपभोग करने लगता है। इस प्रकार कुण्डलिनी अष्टधा प्रकृति को प्राप्त होकर शिव के साथ मिलती है और उसी के साथ लय को प्राप्त हो जाती है यही समाधि की सबसे ऊँची भूमिका तथा मोक्षदायिनी अवस्था है। जैसे—

सहस्रकमले शक्तिः
शिवेन सह मोदते ।
सैवावस्था परा ज्ञेया
सैव निवृ्त्ति कारणा ॥

इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में नाड़ी-शुद्धि का विशेष महत्व है। इसके लिए यम-नियम आदि अष्टाङ्गयोग का अभ्यास करना चाहिए।

यह मार्ग साधन योग है। गीता में इसे अभ्यास योग कहा गया है। इसके अतिरिक्त योग-सिद्धि का एक अन्य उपाय भी शास्त्रों में बताया गया है। जिसे सिद्धयोग अथवा सिद्ध-मार्ग कहा जाता है। इसमें सिद्ध-गुरु शक्तिपात दीक्षा द्वारा शरणागत शिष्य के अन्दर अपनी शक्ति का संचार करके कुण्डलिनी महाशक्ति को जागृत कर देता है। जिससे नाड़ी शोधन, षट्चक्र-भेदन आदि कष्ट-साध्य क्रियायें अनायास ही सिद्ध हो जाती है, जिससे साधक भूतजयी योगी बनकर निर्बीज समाधि को प्राप्त हो जाता है। योगशिखोपनिषद् का वचन है—

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं
कैवल्यं परमं पदम् ।
सिद्धमार्गेण लभते
नान्यथा शिव भाषितम् ॥

परम कैवल्य पद सिद्ध-मार्ग से ही प्राप्त होता है। अन्य विविध प्रकार की साधनाओं से प्राप्त नहीं होता। ऐसा भगवान शिव का कथन है। महोपनिषद् में भी इस बात की पुष्टि की गई है—

दुर्लभो विषयत्यागः
दुर्लभं तत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था
सद्गुरोः करुणां विना ॥

अर्थात् सद्गुरु की कृपा के बिना वैराग्य की प्राप्ति, तत्व-ज्ञान की प्राप्ति तथा निर्बीज समाधि रूप सहजावस्था की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

सिद्ध-गुरु द्वारा प्रसन्नतापूर्वक शक्तिपात करने से पारमेश्वरी शक्ति कुण्डलिनी के जागृत होते ही साधक को अपने अन्तर में छिपी हुई अक्षय निधि मिल जाती है, उसे परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है तथा वह कर्म बन्धन से मुक्त होकर कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है। कठोपनिषद् में कहा गया है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिः
छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

उस परात्पर ईश्वर का दर्शन हो जाने से साधक की अज्ञानग्रन्थि खुल जाती है, उसके सभी प्रकार के संशय नष्ट हो जाते हैं तथा उसके समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट होकर वह कर्म बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

अतः कल्याणकामी व्यक्ति को ईश्वर तथा सिद्ध-महापुरुषों में समान बुद्धि रखकर श्रद्धापूर्वक योग का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम, बन्ध तथा मुद्रा आदि हठयोग की क्रियाओं का अभ्यास अनुभवी गुरुदेव के संरक्षण में रहकर ही करना चाहिये तथा अनन्य गुरुनिष्ठ बनकर गुरुदेव की सेवा, आज्ञापालन योग साधन में तत्परता एवं जिज्ञासा से गुरुदेव के हृदय को प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि सद्गुरु की प्रसन्नता ही कल्याण का स्रोत है। शास्त्रों का कथन है—

मोक्षमूलं गुरोः कृपा । ❀❀

❀ अपरिग्रह का सामाजिक पक्ष ❀

अपरिग्रह का एक सामाजिक पक्ष भी है। इस दृष्टि से अपरिग्रह का आंशिक पालन सद्गृहस्थों द्वारा किया जाना वांछनीय है। इसके अभाव में उपभोग्य सामग्री का कुछेक स्थानों पर जमा होना संभव है। परिणामतः साधारण जनता के लिए खुले व्यवहार में कमी हो जाना अवश्यम्भावी है। इससे समाज में विषमता एवं तज्जन्य असन्तोष का कारण विश्रृंखलता फैलना स्वाभाविक है। सामाजिक दृष्टि से तो—

यावद् भ्रियते जठर तावत् स्वत्वं हि देहिनः ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनः दण्डमर्हति ॥

आवश्यकता से अधिक वस्तु रखना समाज के प्रति अन्याय एवं दण्डनीय अपराध है। ऐसे व्यक्तियों में परदुःखकातरता एवं सहानुभूति का अभाव होता है। बहुत द्रव्य का स्वामी होकर उसे परार्थ में न लगाना स्वार्थपरता है। 'त्यागाय संभृतार्थानाम्' (रघुवंश)-रघुवंशी त्याग के लिये ही संग्रह करते थे। 'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'—बादलों की भांति उनका लेना भी देने के लिए होता था। इन गुणों के कारण वे 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' अन्त में योगावस्था में ही प्राणों का विसर्जन करते थे। योगी का लक्ष्य निःस्वार्थपरता की चरम सीमा है। अतः जीवन-यापन के लिये नितान्त आवश्यक भोग्य वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ भी परिग्रह करना उसकी योग-सिद्धि में बाधक है।

—आचार्य श्री लक्ष्मीदत्त दीक्षित

卐 योग से व्यक्तित्व का निर्माण

श्री डा० विजयसिंह, गोरखपुर

समस्त जीवधारी जीवन-पर्यन्त अपने अस्तित्व की स्थिरता के लिये सङ्घर्ष रत रहा करते हैं। मनुष्य अपनी बौद्धिक शक्ति के कारण ही जीवधारियों में अग्रगण्य है। प्रत्येक व्यक्ति की आभ्यान्तरिक चाह प्रभुता सम्पन्न होने की है। वह जीवन-पर्यन्त नाना चेष्टाओं से, क्रियाओं से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करता रहता है। वह नहीं चाहता कि कभी भी वह परतन्त्र होकर रहे। परन्तु परिस्थितियां तथा उसका अपना अधूरा अपूर्ण व्यक्तित्व उसे हजारों बार अनचाही स्थितियों से समझौता करने के लिये मजबूर करता है। वह अपने से अधिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति की, देवकी, अदृश्य शक्ति की सेवा उपासना में रत रहकर सुख की वांछा करता है, फिर भी वह अपने अपूर्ण व्यक्तित्व के कारण अनेक दुःखों के जाल में अपने को फंसा हुआ असहाय पाता है।

भारतीय धर्म वांगमय में जहां देवोपासना द्वारा साधारण-जनों को धीरे-धीरे पिपीलिका गति से दैन्य भाव को धारण किये हुए शक्ति अर्जन की विधि महापुरुषों ने बतलायी, वहीं उन्होंने मानव जाति को सचेष्ट भी कर दिया कि—

मनुष्यानां देवो पशुः ।

इस प्रकार की देवोपासना जिसमें दासत्व वृत्ति (जो मूलतः मानव मन को कष्टकारी है) की बहुलता है, वह कष्टकारी है। मानव के व्यक्तित्व का निर्माण उस अन्ध-न्याय से नहीं हो सकता।

उपनिषदों में व्यक्ति को व्यक्तित्व की जानकारी दी गई है। तुम हो कौन? मानव तुम्हारा अस्तित्व का रहस्य क्या है? अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व का बोध कैसे कर सकते हो? इन सारी बातों का खुलासा हमारे ऋषियों, मुनियों ने किया है, अपने अनुवर्ती सन्तानों के लिये अपने आत्मांशों के लिये।

व्यक्तित्व क्या ?

समाज शास्त्री व्यक्तित्व की परिभाषा समाज के सन्दर्भ में करता है। उसका समाज परिवर्तनशील है। समाज के सारे अवयव एवं इकाई देशकाल से प्रभावित हैं। अतः समाज-शास्त्री का समाज एवं उसकी इकाई व्यक्ति चर है। व्यक्तित्व की परिभाषा जो आज दी गई, वह आने वाले काल में माडीफिकेशन चाहता है। मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व का परि-

भाषा काफी हद तक गहरे उतर कर करते हैं, परन्तु मन की जटिल संरचना उन्हें भी एक निश्चित आधार नहीं देता दिखाई पड़ता है। धीरे-धीरे शाब्दिक बोधों द्वारा वे भी समन्वय करते हैं। समाज-शास्त्रियों के द्वारा की गई परिभाषाओं से।

वहीं योग-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में, व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विश्लेषण मिलता है। जिसकी विवेचना मात्र शाब्दिक जाल अथवा बहु-चिन्तन का परिणाम न होकर सत्यानुभूति द्वारा की गई है। भगवान पतञ्जलि जी कहते हैं कि मानव मन योग द्वारा एकाग्र होकर ऐसे विलक्षणत्व को प्राप्त हो जाता है कि उस अवस्था में बुद्धि मात्र सत्य को धारण करती है। बुद्धि ऐसी निर्मल हो उठती है कि कि वह केवल सत्य को ही ग्रहण करता है। ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।

आत्म-बोध के बिना सम्पूर्ण व्यक्तित्व बोध का अर्थ ही नहीं है। ज्यों-ज्यों एक व्यक्ति योग साधन द्वारा आत्मानुसन्धान की ओर बढ़ता है, वह व्यक्तित्व की ऊँचाइयों और उसके तलों से परिचित होता जाता है। अस्मितानुगत समाधि में प्रसार को जान पाता है। वह ठीक-ठीक जानता है कि बुद्धि का क्या कार्य है ? मनकी संकल्प विकल्पात्मक संरचना कैसी है ? चित्त का स्वरूप क्या है ? स्थूल शरीर से अन्तःकरण का कैसे सम्बन्ध है ? स्थूल शरीर के संरचना का भी ठीक-ठीक ज्ञान एक योगी को ही होता है।

योग के अन्तर्गत तीन शरीरों का विवरण है—(१) स्थूल शरीर, (२) सूक्ष्म शरीर, (३) कारण शरीर। इन शरीरों का निर्माण छोटे-छोटे कोषों द्वारा होता है। कोशिकाओं के आधार पर उपरोक्त शरीरों को पुष्ट करने वाले सूक्ष्मतम् से स्थूलतर पञ्च-भौतिक तत्व हैं। अन्न द्वारा अन्नमय कोश पुष्ट होते हैं। स्थूल काया के निर्माण में अन्न का मोटा हाथ होता है। परन्तु आहार बाह्य शरीर को नहीं अपितु सूक्ष्मतम् जगत को भी प्रभावित करने वाले होते हैं। इसलिए सात्विक आहार से सात्विक व्यक्तित्व का निर्माण सम्भव होता है। जो व्यक्ति राजस, तामस आहार का सेवन करते हैं, उनके क्रिया-कलापों में रज् एवं तम् की अधिकता रहा करती है। प्राणमय कोशों का सम्बन्ध स्थूल एवं सूक्ष्म काया को जोड़ने वाला होता है। जहां प्राण नाड़ियों में संचरित हो करके एक स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में उचित मात्रा में रस-रक्त का वहन करता है, वहीं यह अन्तःकरण को भी स्थूल शरीर से भी सम्बन्ध जोड़ता है। प्राण और मन का इसलिये अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। प्राण जयता से एक साधक मनोजयत्व को प्राप्त हो जाता है। प्राण के समुचित आयाम को उपलब्ध व्यक्ति जहां शरीर से निरोग हुआ करता है, वहीं उसका मन भी सहज

शक्तिशाली हुआ करता है, जिससे जीवन के नाना सङ्कटों में भी वह स्थिर बुद्धि हुआ सहज कर्म करता है। तीसरा मनोमय को एवं चौथा विज्ञानमय कोष सूक्ष्म शरीर के अभिन्न निर्माणक तत्त्व हैं जिनकी ये दोनों कोशिकायें पुष्ट होती हैं। वे सहज ही प्रकृति के दुस्तर गुह्य रहस्यों को जानने समझने वाले होते हैं। ऐसे व्यक्तियों में पराशक्ति का विकास दिखलाई पड़ता है। अतीन्द्रिय शक्ति जैसे दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, भूत, भविष्यत, ज्ञान आदि अति मानवीय अनुभूतियां इन्हें होती हैं। जिसका आनन्दमय कोश पुष्ट होता है, ऐसे भाग्यशाली मानव सर्वदा सर्व परिस्थितियों में आनन्द-मग्न रहा करते हैं। सूक्ष्म एवं कारण पुष्ट व्यक्तियों को लोग अति मानव की संज्ञा दिया करते हैं। ऐसे परम पुरुषों के व्यक्तित्व को साधारण अन्तःकरण वाला समझ ही क्या सकता है? ऐसे जन तो योग की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए होते हैं। सर्वज्ञता प्रभु सम्पन्नता इनकी सहज सहचरी हुआ करती है। ऐसे लोगों को सचमुच व्यक्ति की परिधि में नहीं बांधा जा सकता है। जो अस्मितानुगत बोध से युक्त हैं वे अपने को सर्व जीवों में व्याप्त देखते हैं।

साधारण व्यक्ति यदि अपना आत्मालोचन करें तो वह पाता है कि उसकी सारी क्रियायें अन्तःकरण-मन, चित्त, बुद्धि, अहं तथा बाह्यकरण। पांच ज्ञानेन्द्रिय— चक्षु, श्रवण, नासा, जिह्वा और त्वक् तथा पांच कर्मेन्द्रिय—हाथ, पैर, मुख तथा मल विसर्जन की क्रिया इन्द्रियों से ही होती है।

अतः व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक यही चौदह अवयव हैं। यदि ये इन्द्रियां अपनी स्वाभाविक स्थिति में नहीं होंगी तो व्यक्तित्व भी सहज नहीं होगा। इन्द्रियों के व्यापार को सामान्य एवं सहज बनाने के लिए ही अष्टांग योग में पांच बहिरंग—यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार तथा तीन अन्तरंग—धारणा, ध्यान, समाधि विभाग किये गये हैं, जिनके अभ्यास से शनैः-शनैः साधारण से साधारण व्यक्ति भी अपने अन्दर विकास को प्राप्त करता है, जिससे साधना काल में ही उसे अपने व्यक्तित्व के विकास का बोध हो जाता है।

निहन्ति दुर्वचनं कुलम्। —दुर्वचन से कुल के गौरव का नाश हो जाता है।

अर्थात्— दुर्वचन वक्ता के कुल को कलंकित कर देता है। वचन की निर्दोषिता ही मनुष्य के उच्च कुल का प्रमाण-पत्र है। दुर्वचनी लोग अपने कुल को निश्चित रूपसे कलंकित घोषित कर देते हैं। मुख से वचन निकलते ही सबसे पहले वक्ता के कुल का परिचय मिलता है कि वह कैसे कुल में पला है? मनुष्य का व्यक्तिगत परिचय तो पीछे से होता है। सूत्र कहना चाहता है कि वक्ता लोग वचन बोलते समय अपने कुल के गौरव का ध्यान रखकर बोलें।

—चाणक्य

卐 श्री गुरुदेव और शिष्य

❀ श्री केशव उपाध्याय, वाराणसी

कलकल निनादिनी भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर स्थित, सन्त-महात्माओं एवं योगीजनों की साधना-स्थली, श्री ऋषिकेश का धार्मिक स्थानों में विशेष महत्व है। उसमें भी हमारे, आपके और प्राणीमात्र के भाग्य-विधाता अकारण दयालु हमारे दादा गुरुदेवजी द्वारा स्थापित 'योग-साधना केन्द्र ऋषिकेश' की तो बात ही निराली है। पता नहीं इस आश्रम द्वारा कितने प्राणियों ने अपना परम लक्ष्य प्राप्त किया, और इस समय भी प्राप्त कर रहे हैं। बात कुछ वर्ष पूर्व की है। गंगा दशहरा के पर्व का समम करीब आ गया था। गुरु-भाई बहन जिन्हें अवकाश मिल गया था, अपने आराध्य श्री सद्गुरुदेव भगवान के संरक्षण में, मनाये जाने वाले इस महोत्सव तथा शोभा-यात्रा का, जो 'योग-साधन आश्रम' ऋषिकेश से आरम्भ होकर मुख्य बाजारों में योग का प्रचार करते हुए, मध्य रात्रि को वापस आ जाती है, वा अलौकिक लाभ प्राप्त करने या तो पहुँच गये थे या पहुँच रहे थे। आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव जी महाराज करीब पाँच दिन पूर्व ही इस उत्सव को सकुशल सम्पन्न करने हेतु अपने पार्षदगणों के साथ पधारे थे। नित्य सुबह श्री गुरुदेवजी महाराज अपनी शिष्य मण्डली के साथ मुख्य बाजारों में घूम-घूम कर योग का अमर-सन्देश ऋषिकेश वासी नागरिकों को सुनवाते थे। जैसे—

योग को अपनाओगे, सच्चा जीवन पाओगे।

× × ×

उठो सोने वालो, जगाने वाले आ गये।
योग का डंका, बजाने वाले आ गये॥

× × ×

योग ही दिव्य जीवन है। आदि-आदि।

इसके पश्चात् श्री गुरुदेव जी अपनी पूरी शिष्य-मण्डली के साथ पवित्र गंगा में अवगाहन कर वापस आ जाते तथा फिर आदि सिद्ध श्री महाप्रभुजी की आरती सम्पन्न कराते थे। इसके पश्चात् देश के कोने-कोने से आये भाई-बहन श्री प्रभुजी के दरबार में भाव-विभोर करने वाले भजनों द्वारा साधक समुदाय को मुग्ध कर लेते थे। इसके पश्चात् श्री गुरुदेव जी महाराज नित्य ही अपने मुखारविन्दु से किसी न किसी धार्मिक रहस्य को अपने बच्चों को समझाया करते थे। एक दिन दयानिधान में अपने मुखारविन्दु से श्री गुरु और शिष्य के प्रकार को समझाते हुए, अपनी गगनभेदी गम्भीरवाणी में श्रीमुख से कहा कि

वैसे तो यह विषय बहुत बड़ा है, किन्तु मोटे तौर पर इस प्रकार समझने का प्रयत्न करो :

श्री गुरु और शिष्य साधारण तौर पर चार भागों में विभाजित किये जा सकते हैं—

(१) श्री गुरु सर्व समर्थ और सर्वज्ञ हो तथा शिष्य अनन्य गुरु-भक्त एवं आज्ञापालक तथा सदाचारी हो।

(२) श्री गुरु सर्व समर्थ और सर्वज्ञ हो तथा शिष्य दुराचारी हो एवं गुरुदेव की बात का तत्व न समझें।

(३) श्री गुरु शिष्य को उपेक्षित समझें, परन्तु शिष्य श्रद्धा एवं विश्वास का पुतला हो, तथा श्री गुरु को ही सब कुछ समझे।

(४) श्री गुरु न योग्य हो और न शिष्य योग्य हो, दोनों एक दूसरे से अपना सांसारिक अभीष्ट सिद्ध करते हों।

आगे श्री सद्गुरुदेव भगवान ने अपने श्रीमुख से चारों प्रकारके लक्षणों पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए कहाकि ऐसी स्थिति जिसमें गुरुदेव सर्वज्ञ एवं समर्थ हो तथा शिष्य गुरु-भक्त एवं आज्ञापालक हो तो, शिष्य केवल कुछ क्षणमें ही अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इस विषय में आपने श्रीमुख से बतलाया कि श्री महाप्रभुजी जब भ्रमण करते हुए एक समय बलिया जिले के भोजपुर गांव पहुंचे तब वहां उन्होंने श्री हरिराम शर्मा नामक किशोर ब्राह्मण बालक को एक अबला नारी को मारने-पीटने के आरोप में अपने सामने बुलाया। वहां उपस्थित समुदाय ने इस बालक को कहा कि यह ठीक ही कर रहा है महाराज, वह नारी चरित्रहीन है। श्री महाप्रभुजी ने श्री शर्मा से पूछा—बेटा, ब्राह्मण का क्या कर्म है। उन्होंने उत्तर दिया दान देना, दान लेना, वेद पढ़ना और वेद पढ़ाना। श्री महाप्रभुजी ने कहा बेटा ! तुम दान देना जानते हो तो मुझे अपनी गर्दन दान कर दो। श्री हरिराम जी ने तीन दिन का समय मांगा और चौथे दिन अपने सारे सांसारिक कर्मों का प्रबन्ध कर तलवार लेकर गर्दन कलम करने के लिए श्री महाप्रभु के चरणों में उपस्थित हो गये। एकान्त जंगल में श्री हरिराम शर्मा ने श्री महाप्रभुजी के आदेशानुसार ज्योंही तलवार का वार अपने गर्दन पर चलाना चाहा त्योंही श्री महाप्रभुने उनके हाथ से लेकर तलवार को तोड़ दिया और कहा—बेटा ! आज से ही तू "तत्त्व विजयी अमर-सिद्ध" हो गया। यह था सर्व समर्थ श्री गुरुदेव एवं आज्ञा-पालक शिष्य का प्रसंग। जो कार्य महात्मा, ऋषि-मुनि एवं योगीजन अनेक जन्म के पुण्य एवं पुरुषार्थ से नहीं कर पाते वह कार्य सद्गुरुकृपासे कुछ पलमें हो गया परन्तु सोचनेकी बात है कि ऐसा आज्ञापालक एवं सत्य प्रतिज्ञा वाला शिष्य है कौन ? इसके पश्चात् महाप्रभु जी ने उनका नाम योगीराज श्री हरिहरानन्द रख दिया।

दूसरी श्रेणी के श्री गुरु और शिष्य का सम्बन्ध भी जिसमें गुरुदेव सर्व समर्थ एवं शिष्य महान दुराचारी हो का प्रसंग भी अपने गुरु-दरबार में ही मौजुद है। अकारण दयालु श्री महाप्रभुजी भ्रमण करते हुए बिहार प्रान्त के जोगवनी नामक स्थान पर पधारे। पवित्र गंगाजल में स्नान करके उसी के किनारे बैठकर अपने नित्य चेतन स्वरूप का चिन्तन करते हुए विराजमान थे। उसी समय दो पुरुष जो पिता-पुत्र थे, तथा देखने से क्षत्रिय जान पड़ते थे, उनकी आवाज श्री महाप्रभुजी के कानों तक गई। वे किसी को जान से मारने की बात कर रहे थे। श्री प्रभु ने उन दोनों को अपना कष्ट निवेदन करने के लिए आज्ञा प्रदान की। वृद्ध क्षत्री ने बतलाना आरम्भ किया कि महाराज जी ! हम पिता-पुत्र है। हमारी एक लड़की है जिसका नाम रामरती है। वह महान दुराचारिणी है। यह इलाके के दुष्ट एवं नालायक पुरुषों से व्यभिचार करती है। हमेशा मदिरापान किया करती है, और इस प्रकार उन व्यभिचारी पुरुषों के डर से उसे कोई कुछ कहता नहीं। परन्तु श्रीमान् हम क्षत्रिय है, और हमें अपने अच्छे कार्यों पर गर्व है, परन्तु इसके दुराचरण से हमारी मान-प्रतिष्ठा मिट्टी में मिल गई है, और प्रत्येक पुरुष हमें उलाहना दिया करता है। अब हम लोग अपना यह अपमान सहन करते में असमर्थ है। आज इसी रास्ते से वह गुजरेगी या तो हम उसे जान से मार डालेंगे या इसमें सफल नहीं हुए तो स्वयं इलाका छोड़कर बाहर चले जायेंगे। वृद्ध क्षत्रिय की सच्ची बात सुनकर श्री प्रभु का हृदय करुणा से भर गया एवं उन्होने श्री रामरती का कल्याण करने का विचार किया। इसी समय रामरती शराब की बोतल हाथ में लिए उधर से गुजर ही रही थी कि श्री प्रभुजी ने उसे आवाज देकर बुलाया और पूछा, रामरती ! तुम यह बुरा कार्य क्यों करती हो। उसने कहा कि मैं इसे सबसे बड़ा आनन्द मानती हूँ। श्री महाप्रभुजी ने उससे कहा कि हम तुम्हें इससे भी बड़ा आनन्द प्रदान करेंगे, तो उसे विश्वास नहीं हो पाया, उसे विश्वास दिलाने के लिये उन्होंने अपना जनेऊ हाथ में लेकर कसम खाई और उसके विश्वास हो जाने पर उसके हाथ से बोतल फिकवा कर उसे पल भर में पवित्र योगिनी बना दिया। इसके पश्चात् उन्होंने उसके भाई-पिता से कहा कि आज से तुम्हारी यह लड़की देवी बन गई है और जो इसकी सेवा करेगा, मनचाहा फल पावेगा। इस प्रकार इस दूसरी श्रेणी में सर्व समर्थ गुरुदेव अपने शिष्य का परमोत्कर्ष कर ही दिया करते हैं।

तृतीय श्रेणी के गुरु-शिष्य के सम्बन्ध को समझाने के लिए श्री मुख ने आचार्य श्री

द्रोणाचार्य एवं एकलव्य का उदाहरण दिया। निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य जब वाण-विद्या का अभ्यास करने के लिए गुरुदेव के रूप में श्री द्रोणाचार्य को मानकर उनके पास गया एवं वाण-विद्या सीखने की प्रार्थना की तो उन्होंने साफ-साफ शब्दों में इन्कार कर दिया। परन्तु उस निषाद पुत्र के मन में आशा बनी रही एवं वह वहां से लौटकर अपने घर नहीं गया, परन्तु बाहर-बाहर जंगल में पहुँच गया एवं आचार्य द्रोण की एक मिट्टी की प्रतिमा बनाकर सामने रखी एवं उसी के समक्ष अपनी वाण-विद्या का अभ्यास आरम्भ किया। यद्यपि आचार्य द्रोण द्वारा वह पहले तिरस्कृत किया जा चुका था, परन्तु अपने श्रद्धा एवं विश्वास के बल पर वह महान धनुर्धर अर्जुन से भी आगे निकल गया। यद्यपि आचार्य द्रोण का उसके प्रति लौकिक दृष्टिकोण से कोई रुझान नहीं दीखता, परन्तु अपनी श्रद्धा और विश्वास के बल पर वह अपना अभीष्ट सिद्ध कर सका।

अब अन्त में चौथे प्रकार के गुरुदेव एवं शिष्य की बात भी अजीब ही है। शिष्य किसी सांसारिक शक्ति सम्पन्न प्राणी को अपनी दुनियादारी का कार्य कराने हेतु अपना गुरु स्वीकार करता है, तो गुरु भी उसमें पैसा और अन्य सामान प्राप्त कर उसका उपभोग करता है। श्रीमुख ने मुस्कराहट भरे अपने मुखारविन्दु से कहा कि इस प्रकार के गुरु और शिष्य तुम जहां देखना चाहोगे वहीं मिल जायेंगे।

श्रीमुख ने यह कहते हुए कि हम-तुम बड़े भाग्यशाली हैं कि ऐसे सद्गुरुदेव हमें मिले हैं, हमें अपना परम लक्ष्य प्राप्त कर ही लेने का निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए। श्रीमुख ने इस आशीर्वाद के साथ अपना प्रवचन समाप्त किया कि तुम सब योग के पवित्रतम् मार्ग पर शीघ्रता से बढ़ो, वे प्रभु तुम्हारी अवश्य-अवश्य सहायता करेंगे।

* 卐 *

❀ कर्त्तव्य-पालन ❀

कर्त्तव्यों को ठीक समय पर न करके उन्हें टालते रहने से, निश्चित रूप से विघ्न आ खड़े होते हैं। कर्त्तव्यों को टालते रहना अपना काम बिगाड़ने के लिए विघ्नों को निमन्त्रण देना है। विघ्नों को अन्तराय कहा जाता है। विघ्न विजेता मानव ही कर्त्तव्य करके उसका सुफल पा सकता है।

सुबुद्धि का नेतृत्व—

भौतिक शक्ति सदा अन्धी होती है। वह अपनी सफलता तथा कृत-कृत्यता के लिए सुनेतृत्व चाहा करती है। सुबुद्धि ही भौतिक शक्ति का नेतृत्व तथा सदुपयोग कर सकती है।

—योगी श्री अलख

卐 श्री गुरुदेव की प्रसन्नता का फल

❁ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा, एम० ए०, एम-एड०

यदि कभी कोई पुण्य उदय हो और उसके फलस्वरूप जीवन में किसी घड़ी कोई सद्बुद्धि पैदा हो जाय तथा यदि किसी देवी-देवता की आराधना से कोई वर मिलने का अवसर प्राप्त होने लगे तो धन-दौलत या ऋद्धि-सिद्धि क्या मांगना ? मांगने से यदि मिल सके तो एक ही चीज पर्याप्त है और वह है जगदाधार श्री सद्गुरुदेव की प्रसन्नता, जिसको उनकी कृपा का प्रसाद मिल जाय, उसका क्या कहना निहाल हो गया ! उसके लिए फिर और क्या पाना शेष रह गया ? दुनिया में अगर कोई कुछ देता है तो अहसान जताकर देता है । स्वतः दाता बनकर लेने वाले को छोटेपन का अहसास कराके देता है । अपेक्षा का भाव रखकर देता है । प्रत्युपकार की दृष्टि से देता है । नाम के लोभ में देता है । अपने दिल की खुशी का इजहार करने के लिए देता है । एक देकर सौ देने का ढिंढोरा पीटता है । अपने परलोक की कामना से देता है । किन्तु श्री सद्गुरु !!! अहा ! ऐसे देते हैं कि झोली भरकर देते हैं । मालूम नहीं पड़ने देते कि कब दिया, कैसे दिया और किसने दिया ? चुपचाप अमूल्य रत्न दे देते हैं । जिसको बूंद की प्यास हो उसे समुद्र दे देते हैं । परदे में छिपकर देते है ताकि लेने वाला यह जान न सके कि कोई दे रहा है, प्रत्युत वह यह मान ले कि यह मेरे पुरुषार्थ और मेरी साधना का फल है । वाह रे ! अद्भुत दाता ! कहां तक अपने को आप छिपायेंगे ? जिसे आप जगत के नजारे और भीतरी रुहानी खजाना देखने वाली आँखें दे देते हैं, उनसे प्रभुजी आप बचकर कहां जायेंगे । आप कितने ही वेष बदलें, आपके जो हो चुके हैं, वे आपको पहचान ही लेंगे । दुनिया में देने वालों की भीड़ लगी है । कोई बूढ़ी गाय तो कोई-कोई मरी गाय तक देकर अपना नाम दान शिरोमणियों की पंक्ति में सबसे ऊपर लिखाना चाहता है । जिसे आप अपने को जानने की दिव्य-दृष्टि दे देते हो, वही जान पाता है कि—

श्री सद्गुरु समान दाता नहीं,
तीन लोक के मांहि ।
सद्वस्तु बख्से वहीं,
जाको अन्त न आहि ॥

क्या दुनिया वाले, क्या देव देवता ! सभी असार, नाशवान और बन्धन में डालने वाली वस्तुयें ही देते हैं । हे दयालु आप अनश्वर, अमित, अनन्त, कालातीत अमर निधि को अपनी एक स्मित रेखा के द्वारा सहज ही दे

देते हो। अपनी इस अमर निधि की बख्शीश के लिए मेरा नमन कोटिशः नमन स्वीकार करें। मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे देकर आपके प्रति कृतज्ञता या आभार प्रदर्शित कर सकूँ। सब कुछ आपका ही दिया तो है। फिर मैं किस मुँह से कहूँ कि मैं अमुक वस्तु देकर आपके प्रति आभार प्रदर्शित कर रहा हूँ। विद्या, बल, बुद्धि, वैभव और वाणी सभी कुछ आपका ही दिया हुआ है। आप अखण्ड-मण्डलाकार सृष्टि कर्ता, सर्व व्यापक तेज-स्वरूप हैं। आपके चरण-कमलों में मेरा प्रणाम आपके चरण-कमल की एक कणिका भवताप-शमन करने के लिए पर्याप्त है। आपके श्री-चरण संसार सागर को पार करने में नौका हैं। पारस तो लोहे का सोना बनाता है किन्तु आपकी कृपा से लोहा आप जैसा पारस ही बन जाता है।

दुनिया वालों का भाग्योदय होता है तब जब लौटरी निकल आये, मरता व्यक्ति जीवित हो जाय। घर कुटुम्ब बढ़ता चले। निःसन्तान सन्तानवान बन जाये। पर जिन्हें आप विवेक की दृष्टि देते हैं वे अपना भाग्योदय तब मानते हैं जब आपकी कृपा-दृष्टि के वे पात्र बनते हैं, जब आप उन पर अपनी स्मित-छटा छहराकर योग की अमूल्य सम्पत्ति न्यौछावर कर देते हैं। फिर आप यह भी नहीं देखते कि यह सुपात्र है या कुपात्र है। श्रीकृष्णानन्द सरस्वती ने ठीक ही कहा था—

भाग्योदयस्तु का वा ?

गुरु वचनाद्द्वितीय पदलाभः ।

भाग्य का उदय कब समझना चाहिए ? उत्तर था—जब गुरुदेव की कृपा से अखण्ड नित्य अपरोक्ष चैतन्य की प्राप्ति हो जाय। गुरु कृपा कब होती है—यह प्रश्न प्रत्येक साधक के मन में घूमा करता है। ठीक ही है। जब तक श्री गुरुदेव की महानता तथा उनकी विभूतियों का साधक को बोध नहीं होता तब तक उनको समर्पण नहीं होगा। और जब तक समर्पण नहीं होगा, सच्ची सेवा भी नहीं होगी। बिना सेवा के मेवा नहीं मिलती। सन्त तुलसी ने सरल शब्दों में इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया है—

जाने बिन न होइ परतीती ।
बिन परतीत होइ नहि प्रीती ।।
प्रीति बिना नहि भक्ति दृढ़ाई ।
जिमि खगेश जल की चिकनाई ।।

अतः सर्व प्रथम गुरुदेव के ऐश्वर्य का परिचय शास्त्रों से, संतों से अथवा उनकी ही कृपा से प्राप्त कर लेना चाहिए।

श्रीसद्गुरु की सत्ता सर्व व्यापक सत्ता है, बेहद है। कान फूंकने वाले गुरु तो गली-गली घूमते मिल जायेंगे किन्तु तत्वदर्शी गुरुदेव का मिलना दुर्लभ है। योगी कबीर कहते हैं—

कनफूंका गुरु हद्द का,
बेहद का गुरु और ।

बेहद का गुरु जब मिले,
लागे हरि का ठौर ॥

जब तत्वदर्शी गुरुदेव मिल जाते हैं तो संत सुन्दरदास कहते हैं: —

गुरु दादू आया, भेद बताया।
दिखाया अविनाशी ॥

अविनाशी का दर्शन सहज हो जाता है जिससे जड़ चेतन की गाँठ खुल जाती है। सूफी इस स्थिति को 'फना फिल्लाहवक विल्लाह' कहते हैं, जिसका अर्थ है:—ईश्वर में मरना सदा जीना है। ईश्वर में जीना तथा ईश्वर के लिए जीने की कला या ज्ञान बिना श्री सद्गुरुदेव की कृपा-कटाक्ष के नहीं हो सकता।

गुरुदेव का स्वरूपज्ञान उनकी कृपा के बिना नहीं हो सकता। जिस पर उनकी कृपा हो जाय वही उनके नामरूप से भिन्न सर्व शक्तिमान, प्राणों से भी अधिक प्रियतम तथा सर्वव्यापक स्वरूप को जान सकता है और वही अपने को सर्वात्मना गुरुदेव पर न्यौछावर कर देते हैं। गुरुदेव को शिष्य की तलाश शिष्य से अधिक है। कुर्बानी देने वाला शिष्य यदि मिल जाय तो गुरु का हृदय उसको सब कुछ देने के लिए उसी प्रकार उद्यत हो उठता है जिस प्रकार भूखे बछड़े को देखकर गाय के थनों में से स्वतः दूध निकलने लगता है। गुरुदेव को प्रसन्न करने का कोई रामबाण उपाय नहीं है। थोड़े से गुण से ही वे रीझ जाते हैं। सच्चे मन से गुरु सेवा की जाय तो भी वे प्रसन्न हो जाते हैं। दिखावे के लिए या अहंकार के वश होकर अपनी तसल्ली के लिए जो गुरुसेवा करते हैं, वे अपने भावके अनुसार ही फल प्राप्त करते हैं।

सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं कि गुरु सेवा सम्पूर्ण भाग्य की जन्मदात्री है, क्योंकि वह शोकग्रस्त जीव को ब्रह्म स्वरूप बनाती है। जो व्यक्ति अपना सर्वस्व श्री गुरुदेव को अर्पित कर देता है और जिसने अपने हृदय को गुरु भक्ति का मन्दिर बना लिया है—जिस स्थान पर गुरुदेव रहते हैं, उसी स्थान पर जिसका मन रमा हुआ है, उस तरफ से जो पवन आता है उसे भी जो नमस्कार करता है, जो गुरुदेव से हर-क्षण मिलने के लिए व्याकुल बना रहता है। जो गुरुदेव की सम्बन्धित वस्तुओं, व्यक्तियों तथा कुलगोत्रादि का नाम सुनते ही महासुख का अनुभव करने लगता है, जो अपने हृदय मन्दिर में अपने प्राण प्यारे गुरुदेव की नित्य आरती उतारा करता है, जो अपने अपने गुरुरूपी विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा बनकर उनका ध्यान करता रहता है, गुरु कृपा के स्नेह जल में स्वयं मछली बन गया है, जो गुरुकृपा को अमृतरूपी वर्षा समझकर अपने को गुरु सेवक रूपी वीरुध (वनस्पति) मानता है अथवा अपने को बिना पंख तथा नेत्रों का पक्षीशावक मानकर गुरुरूपी पक्षिणी माताके मुँह से चारा

लेता है अथवा गुरु को नौका समझकर उनका सहारा लेता है—इस प्रकार गुरु प्रेम का भाव हृदय में भरकर गुरुदेव की मूर्ति का सदा ध्यान करता है वही गुरुभक्त ध्यान सुख का यथार्थ अनुभव प्राप्त करता है।

जो गुरुदेव की प्रत्येक आवश्यकता को बिना कहे ही अपनी प्रसन्नता से करने को अपने जीवन की सार्थकता समझता है। गुरुदेव की पादुकाएँ, चमर, आसन, जो स्वयं बनने को तत्पर है। जो रसोइया, धोबी, सेवक सब कुछ बनकर गुरुदेव को प्रसन्न रखने का व्रत ले लेता है, उसी की सेवा सच्ची गुरुसेवा है अन्यथा मुँह में राम बगल में छुरी का व्यवहार है। आवश्यक नहीं कि जो गुरुदेव के समीप हर समय रहे वह सच्चा गुरुभक्त या गुरु सेवक हो।

अलि दूर रहे तो भी लेत पुष्प की वास।
दादुर कुछ ना लहे रहे कमल के पास॥

गाय के थन के पास रहने वाला कीड़ा गाय को कष्ट देता है और खून ही पीता है। जबकि गाय से दूर रहने वाला बछड़ा गाय को अपने निर्भर वात्सल्य भाव से प्रसन्न रखकर थनों से दुग्ध पीता है। गुरुदेव के समीप रहकर जो सेवा के नाम से जी चुराते है या अपनी पूजा करवाते है वे अपने हाथों अपने भाग्य के पैरों पर कुल्हाड़ी मार रहे है। उनके प्रारब्ध कर्मवश उन्हें यह अवसर मिला था, जब गुरुदेव की सेवा कर उनका प्रसाद प्राप्त कर जीवन को सार्थक कर लेते। परन्तु आजकल के साधक बगुलाभगत दिखाई पड़ते है। दिखाना अधिक है, वास्तविकता कम है। सेवा कोई और करता रहे, उन्हें तो चकाचक मेवा, केवल मेवा ही चाहिए। उन्हें गुरु की कम जरूरत है, उनके प्रसाद धन, ऐश्वर्य और अपने प्रदर्शन की उनसे अधिक जरूरत है।

सन्त ज्ञानेश्वर कहते है कि गुरु की भक्ति करने वाला सब कुछ पा जाता है। वह यावज्जीवन सेवा-परायण बना रहता है तथा मरणोपरान्त भी ऐसी अभिलाषा करता है कि इस देह की मिट्टी वहां पर डाली जाय जहां गुरुदेव के चरणों का स्पर्श हो, उसका जलीय अंश भी गुरुदेव के काम आये। उसका तेज दीपक में मिलकर गुरुदेव की आरती करने के काम आये। प्राणवायु चँवर में मिल जाय, जिससे गुरुदेव को पंखा हो सके। आकाश-तत्व गुरुदेव के निवास स्थान के महाकाश में मिल जाय। इस प्रकार की भावना और धैर्य जिसके मन में है वह रात और दिन का ख्याल नही करता और न सेवा से ऊबता है। उसके मन में यह अभिलाषा होती है कि वह गगन के समान विशाल बन जाय और समस्त कार्यों को अकेला ही पूरा कर ले। किसी अवसर पर वह गुरु के खेल के लिए अपना जीवन ही निछावर कर देता है। गुरु परम्परा से चले

बाना वाला धर्म ही उसके लिए वर्णाश्रम धर्म बन जाता है। गुरु ही उसका तीर्थ माता-पिता और देव है। वह गुरु-सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी बात को जानता ही नहीं। गुरु के सेवक को वह अपने सगे भाई से अधिक प्यार करता है। उसकी वाणी रात-दिन गुरु नाम का ही जाप करती रहती है। गुरु वाक्य ही उसके लिए शास्त्र है। गुरुदेव के चरणों का जल तीर्थ जल है। गुरु का उच्छिष्ट प्रसाद पाकर वह प्रसन्न होता है। गुरुदेव के चरण-रज-कण मस्तक का चन्दन बनते हैं। इस प्रकार की गुरु-भक्ति करने वाला ही तत्व-ज्ञान तथा सहज समाधि का अधिकारी होता है। गुरुदेव की सेवा से ज्ञान और वैराग्य स्वयं आकर शिष्य का वरण करते हैं। वह सामान्य मनुष्य नहीं रह जाता वरन् देवकोटि का बन जाता है।

समर्थ गुरु रामदास ने एक बार शिवाजी की गुरु-भक्ति की परीक्षा ली। निविड़ अन्धकार व्याप्त था। वर्षा हो रही थी। कालरात्रि सी भयंकर रात थी। शिवाजी अपने गुरुदेव की सेवा में संलग्न थे। गुरु रामदेव कराह उठे। शिवाजी स्तब्ध हुए और व्याकुल होकर पूछने लगे—गुरुदेव ! क्या कष्ट है ? शीघ्र बताइए ! मैं तुरन्त उसकी दवादारू करता हूँ। मैं आपको किसी प्रकार के कष्ट में देख नहीं सकता ! गुरु रामदास ने पेट को कसकर एक हाथ से थामते हुए कहा—बेटा ! पेट में भयङ्कर शूल है। ऐसी भयानक रात में इसकी चिकित्सा कैसे हो सकती है ? सुबह देखा जायेगा। तब तक मैं दर्द सहने की कोशिश करूँगा। शिवाजी से गुरुदेव का दुःख देखा नहीं गया। वे बोल पड़े—गुरुवर ! आप रात्रि का विचार छोड़ दीजिये। शीघ्र आज्ञा कीजिए, क्या उपचार किया जाय। मेरे होते आप कष्ट भोगें ! मुझे धिक्कार है ! गुरु रामदास ने शिवाजी की दृढ़ता तथा तत्परता देख कर संकोच छोड़कर कह दिया—बेटा ! मेरा दर्द शेरनी के दूध से ठीक होगा। यदि तुम शेरनी का दूध ला सको तो मेरे प्राण बच सकते हैं। शिवाजी ने क्षण भर में अपने मन को तोल कर देखा और दृढ़ विश्वास के शब्दों में गुरुदेव की इच्छा-पूर्ति का वचन दे दिया। गुरु का आशीर्वाद ले उनकी आज्ञा लेकर गहन रात्रि में भीगते हुए शिवाजी सोने का पात्र हाथ में लिये हुए जंगल की ओर शेरनी की तलाश में निकल पड़े। चलते-चलते निविड़ जंगल में घुस गये। वर्षा के वेग तीव्र होने लगा। एक वृक्ष के नीचे रुककर कुछ देर विश्राम करने की इच्छा हुई। तब तक वर्षा कुछ कम हो जायगी। उनके पास एक पशु जैसा प्रतीत हुआ। उन्होंने उसके शरीर पर हाथ फेरा तभी बिजली चमकी। उन्होंने बिजली के प्रकाश में देखा कि वह शेरनी थी

और पास ही उसके बच्चे खड़े थे। शिवाजी ने शेरनी को पुचकारा और गुरु का आदेश सुनाकर कहा कि तुम्हें मेरे गुरुदेव के लिए दूध देना है। शेरनी चुपचाप खड़ी रही। शिवाजी ने दूध निकाला और लेकर गुरुदेव के पास आ गये। गुरुदेव शिवाजी की गुरु-भक्ति से प्रसन्न हुए। उन्होंने शिवाजी के साहस की सराहना की। गुरुदेव की प्रेरणा से ही शेरनी वहां उपलब्ध हो गई थी तथा उसने अपना हिंसक भाव छोड़ दिया था। शिवाजी से प्रसन्न होकर समर्थ गुरु रामदास ने उन्हें 'भवानी' तलवार देकर आशीर्वाद दिया कि जब तक यह तलवार तुम्हारे हाथ में रहेगी, संसार की कोई भी ताकत तुम्हें हरा नहीं सकेगी। गुरु-सेवा और गुरु-भक्ति का यह एक ऐतिहासिक प्रसिद्ध कथानक है।

श्री गुरुदेव की उपमा किससे दी जाय? कल्पवृक्ष और कामधेनु के पास जाना पड़ता है तब कामनायें पूर्ण होती हैं किन्तु श्री गुरुदेव की कृपा अद्भुत है। दूर बैठे ही स्मरण मात्र से वे सब कुछ दे देते हैं। जब बच्चे को भूख लगती है तो मां यह नहीं विचार करती कि बालक मांगे तब मैं उसे दूध पिलाऊँ, प्रत्युत स्वयं बालक के पास पहुँचकर, दुलारकर पुचकार कर उसे अपना प्रेमामृत तुल्य दुग्ध प्रसन्न होकर पिला देती है। जब शिष्य अपना सर्वस्व अर्पण कर अबोध बालक की तरह या चातक की तरह गुरुदेव में एकनिष्ठ भक्ति करने लगता है तो वे स्वयं चलकर उसके पास पहुँचते हैं। शिष्य को श्री गुरुदेव की जितनी तलाश होती है उससे कहीं अधिक श्री गुरुदेव को सच्चे शिष्य की तलाश होती है। यदि शिष्य सच्चा शिष्य बन जाय तो उसे गुरुदेव को ढूढ़ने की जरूरत नहीं है। गुरुदेव स्वयं उसे ढूढ़ लेते हैं। सद्गुरुदेव का दर्शन प्रभु कृपा का परिणाम है और प्रभु का दर्शन गुरुदेव की कृपा का परिणाम है। समुद्र इतना विशाल और इतना अपेय है कि किसी की भी उससे प्यास नहीं बुझ सकती। बादल उसके खारी पानी को अपने उदर में रखकर मीठा बनाकर वर्षा द्वारा हर प्राणी के पास भेज देते हैं। तालाब, नदी, कूप, बावड़ी आदि विविध साधनों से सब प्राणी मधुर जल का पान कर पूर्णतृप्त होते हैं। इसी प्रकार अव्यक्त, अविनाशी, निराकार ब्रह्म मन, वाणी से अगम तथा अगोचर है, वह सगुण साकार बनकर गुरु रूप में आकर ही सबका कल्याण करता है। गुरुदेव से प्रिय संसार में और कोई नहीं है। उन जैसा हितैषी सृष्टि में कोई नहीं है। उनकी कृपा ही मोक्ष की दाता है—'मोक्षमूलं गुरोर्कृपा।' उनकी वाणी से जो भी शब्द निकल जाता है वही मन्त्र की सभी शक्तियों से युक्त होकर मंत्र बन जाता है। 'मंत्रमूलं गुरोर्वाक्यम्।' जिसका ध्यान न लगता हो श्री गुरुदेव के चरणों में

नमस्कार कर उनके चरणों का ध्यान करें, अपने हृदय-कमल में उनके चरणों का अर्चन करें, झटपट समाधि मिल जायगी। 'ध्यानमूलं गुरोमूर्तिः।' श्री गुरुदेव के चरण-कमलों की वन्दना से बढ़कर कौन सी पूजा हो सकती है 'पूजामूलं गुरोर्पदम्।'

श्री गुरुदेव जिस पर कृपा करते हैं उसकी सेवा स्वीकार करने लगते हैं। जिसे सेवा का अवसर मिल जाय उसे अपने को धन्य समझना चाहिए। सेवा से ही वे प्रसन्न होते हैं। बल्कि यों समझना चाहिये कि वे सेवा कराने के बहाने शिष्य को अपनाते हैं और बिना कहे ही उसके अन्दर बैठकर चक्र घुमाकर उसके भ्रम संशय को दूर कर अविद्या रूपी अज्ञान को खा जाते हैं। गाय जैसे सद्यः जात बछड़े को जीभ से चाट कर पहले साफ कर पात्र बनाती है फिर अपने अमृतोपम मधुर दुग्ध से पुष्ट करती है, उसी तरह श्री सद्गुरुदेव पहले सेवा के बहाने शिष्य के मनोविकारों–काम, क्रोध तथा लोभ आदि को दूर करते हैं तथा प्रारब्ध के संस्कारों के वेग को सहने की क्षमता देकर तितिक्षु बना देते हैं। शनैः शनैः तितिक्षु से मुमुक्षु भी बना देते हैं। श्री गुरुदेव की सेवा में ही उनकी कृपा का निवास रहा करता है। सेवा ही कृपा प्राप्ति की मूल मन्त्र है। हनुमान ने इसीलिए सेवा धर्म को सर्वोपरि स्वीकार किया क्योंकि—'सेवक सेव्य भाव बिन, भव न तरिय उरगारि।' भगवान ने हनुमान से पूछा—कहो मारुति नन्दन! क्या चाहते हो। हनुमान जी बोले—'आपकी कृपा।' भगभगवान बोले—जो बालक माता के भरोसे रहता है वह निश्चिन्त रहता है। जो पिता की कृपा प्राप्त करता है वह निर्भय रहता है। बताओ माता या पिता में से किसके तरह की कृपा चाहते हो। हनुमान जी बोले—प्रभु मुझे उलझन न डालो! न मैं इतना ज्ञानी हूं जो पिता का प्यारा बन सकूं—'ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम्।' इतना निर्दोष भी नहीं हूं कि मां की कृपा होती रहे। मैं माया के दोषों से ग्रस्त हूं अतः आप मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए जैसी कृपा गुरुदेव की होती है— 'कृपा करहु गुरुदेव की नाईं।' भगवान ने चुटकी ली। हनुमान्! गुरुदेव की कृपा भी कोई कृपा है। वे तो सेवा चाहते हैं? हनुमान ने कहा—बस यही तो मुझे चाहिए। हर क्षण वे मुझे देखते रहें, मेरे अवगुणों को धोबी बनकर ज्ञानरूपी साबुन से धोते रहें। रंगरेज बनाकर मनरूपी कपड़े को ब्रह्मानन्द के रंग में रंगते रहें और मैं पूर्णतया उन पर निर्भर हो जाऊँ—'भक्ति प्रयच्छ पुंगव निर्भरां मे, कामादि दोष रहितं कुरु मानुषं मे।' ऋद्धियां सिद्धियां उनकी सेवा में रहती हैं, मुझ जैसे क्षुद्र प्राणीकी सेवा से उनका क्या बनेगा। यह तो उनकी कृपाही हैकि मुझ जैसे अबोध को किसी न किसी सेवा के बहाने अपनी दृष्टि में रख रहे हैं। उनका प्यार मुझे धोखा दे सकता है। उनकी कठोरता मेरा जल्दी कल्याण करेगी।

एक महात्मा के दो शिष्य थे। एक शिष्य को हलुआ बादाम और डनलप का गद्दा दे रखा था उन्होंने और दूसरे को सूखी रोटी, डाँट-फटकार और जमीन पर सोने के लिए एक चटाई मात्र दे रखी थी। महात्मा के एक मित्र एक दिन वहां आ गये। उन्होंने उन शिष्यों के प्रति जब महात्मा जी का ऐसा व्यवहार देखा तो उन्हें बुरा लगा और उनसे बिना बोले रहा नहीं गया। उन्होंने कहा— मित्र ! आप कैसे महात्मा हैं ? महात्मा में सम-दृष्टि होनी चाहिये। आपके अन्दर पक्षपात क्यों है ? जो शिष्य रात-दिन कठोर परिश्रम करता है उसे सूखी रोटियां और कठोर वचन और जो गप्प लगाता है, दूसरे लोगों को दिखाता है कि मैं ही महाराज जी को अधिक चाहता हूं, उसे आप दूध, रबड़ी और मखमली गद्दे देते हैं। महात्मा जी ने कहा— आपने जो देखा है वह ठीक है, पर जो आगे होगा वह आपने नहीं देखा। जो ऐश आराम में खुश है उसे मैंने कुछ नहीं दिया। संसार ही उसके पास और बढ़ा दिया। जिसे कठोर जीवन में डाला है, उसे आत्मिक आनन्द, ध्यान, समाधि वा अक्षय ज्ञान दे दूंगा जिसे पाकर वह देवताओं का भी पूज्य बन जायगा।

श्री गुरुदेव की कृपा से ही अन्दर के खजाने की चाबी हाथ लगती है। साधन की विलक्षण स्थितियां उनकी कृपा से क्षणमात्र में मिल जाती हैं। जिन क्रियाओं और साधनाओं को साधक जंगलों की खाक छानकर एक जन्म में नहीं कई जन्मों में भी शायद ही प्राप्त कर पाते हैं, उन्हें गुरुदेव प्रसन्न होकर सहज रूप से चलते-फिरते ही दे देते हैं। कभी-कभी तो हमने यह भी देखा है कि एक सेर के पात्र में वे पांच सेर भर देते हैं, जो फैलता फिरता है। मीरा को श्री सद्गुरु से ऐसी अनमोल वस्तु मिल गई थी कि वह मेवाड़ का राज्य, ऐश्वर्य छोड़कर गली-गली नाचकर डन्के की कहती फिरती थी—

"वस्तु अनमोलक दी मेरे सद्गुरु,
करि किरपा अपनायो॥
पायो जी मैंने रामरतन धन पायो॥"

सिद्धों के नाथ योगिराज श्री गोरखनाथ गुरु-कृपा को थोड़े में शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—

गगन मण्डल में औंधा कुँआ,
तहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होइ सो भर-भर पिया,
निगुरा जाइ पियासा॥

गगन-मण्डल सहस्रार के भीतर है जहां माया की करामात से अमृत अग्नि-कुण्ड में नष्ट हो जाता है। नाभि-मण्डल स्थित सूर्य उसे सोख लेता है, जिसके कारण यह जीवन दुनिया में भिखारी बनकर शक्ति वालों के आगे हाथ फैलाता फिरता है। कभी इस पीर के पास भागता है, कभी उस मौलवी के पास,

कभी उस तांत्रिक के पास तो कभी किसी देवता से अपनी इच्छा पूर्ति की प्रार्थना करता फिरता है। जिस पर सद्गुरुदेव की कृपा हो जाती है, वह उस अमृत कूप को उलट कर पीने की कला सीखकर तत्वविजयी सिद्धयोगी बन जाया करता है और अपनी शक्तियों का खुद मालिक बन जाता है। 'सभी देव दर पर रहहि।' यह वास्तविकता घटित हो जाती है, यह तो बहुत दूर की ऊँची बात है। शरीर और मन का स्वास्थ्य भी गुरु-कृपा के बिना नहीं हो पाता। प्रारब्ध कर्मों का भोग रोग सुख-दुःख के रूप में आता है, जिसे शरीर और मन ही भोगता है। जो गुरु-मुख नहीं है उसे स्थूल से भोग भोगने पड़ते हैं, जिससे लम्बे समय तक भोगों का सिलसिला चलता रहता है। श्री गुरुदेव की कृपा हो जाय तो मन का सूक्ष्म में प्रवेश कराके स्वप्न अथवा ध्यान में कठोर प्रारब्ध को भोगने की कला सिखा देते हैं, जिससे वर्षों का भोग कुछ दिनों या घण्टों में ही पूरा हो जाता है और अधिक कृपा हो जाय तो कारण में लयता कर स्मितानुगत समाधि में पहुँचाकर कई जन्मों के संस्कार घण्टों में पूरे करा देते हैं। श्री गोरखनाथ जी के एक शिष्य ने उनसे पूछा—महाराज जी! कैसे मालूम होगा कि किसी को सद्गुरु मिल गये हैं या नहीं? श्री गोरखनाथ जी ने उत्तर दिया—यह भी कोई पूछने की बात है। इसकी सहज पहचान है :—

बड़े-बड़े कूल्हे मोटे-मोटे पेट,
नाहीं रे पूता गुरु से भेंट।
खड़-खड़ काया निरमल नेत,
भई रे पूता गुरु सौं भेंट॥

जिसे गुरु की कृपा प्राप्त हो जाती है, उसका शरीर तेजोमय हो जाता है। नेत्र-ज्योति निर्मल हो जाती है। शरीर में सतोगुण के परमाणु व्याप्त हो जाते हैं। उसका मन खुले पेट्रोल की तरह हो जाता है। जिसके सामने यदि श्रीगुरुदेव की लीला-कथाएँ सुनाई जायें या उनका नाम ही कोई श्रद्धा से ले ले तो वह उसके मन को जलती हुई आग की चिनगारी का काम करता है। एकदम उसकी वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और अनन्त आकाश में उन्मुक्त पक्षी की तरह आनन्द से विचरने लगता है अथवा यों कहना चाहिए कि उसका मन आनन्द रूपी सागर में मछली बन जाया करता है। 'गुरु' ये दो अक्षर उसके लिए महामन्त्र का काम करते हैं। 'गुरु' इन दो अक्षरों को भूतभावन भगवान शंकर ने 'मन्त्रराज' कहा है—

मंत्रराजमिदं मन्ये गुरुरिति अक्षर द्वयम्।

—स्कन्द पुराण

श्री गुरुदेव का दिव्य-रूप प्रत्येक की समझ में नहीं आ पाता। जिस पर वे कृपाकर कर दिव्य-दृष्टि देते हैं वही उनके असली सर्व-व्यापक, तेजोमय रूप को जान पाता है।

दिव्य दृष्टि पाकर वह देखता है कि अब तक जिनको वह शरीरधारी साधारण व्यक्ति समझ रहा था वही ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा सृष्टि के आदि कारण है। महाप्रलय में ब्रह्मा, विष्णु, महेश का तो महाकारण में लय हो जाता है किन्तु श्री सतुरु सत्ता का उस समय भी लय नहीं होता, इसीलिए भगवान पतञ्जलि जी ने कहा—

पूर्वेषामपिगुरुः कालेनावच्छेदात् ।

अर्थात् श्री सद्गुरु सत्ता सृष्टि के पूर्व-पूर्व समय में होने वाले हिरण्य गर्भ आदि की भी गुरु है क्योंकि अन्य सभी ऋषि तथा देव प्रलय तथा महाप्रलय के समय उसकी चपेट में आ जाते हैं। श्री सद्गुरु सत्ता काल की हद (महाप्रलय) से परे होने के कारण नित्य तथा अनादि है।

गुरुदेव की प्रसन्नता और कृपा से ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है तथा जीव, माया तथा अविद्या से मुक्त होकर कैवल्य प्राप्त करता है। स्कन्द पुराण में कहा भी है—

गुरुवक्त्रस्थितं ब्रह्म प्राप्यते तत्प्रसादतः।

श्री सद्गुरु के प्रसन्न मुख-कमल के ध्यान से, जिसकी एक विशेष विधि है, ब्रह्मानन्द के सागर में योगी उतर जाता है। विवेक और वैराग्य की सम्पत्ति से लेकर ज्ञान विज्ञान तथा समस्त विद्यायें श्री गुरुदेव की कृपा से योगी को उपलब्ध हो जाती है—

गुरुवक्त्रस्थिता विद्या
गुरुभक्त्या तु लभ्यते ।

तथा

ज्ञानं विज्ञान सहितं
लभ्यते गुरुभक्तितः ।

श्री गुरुदेव की सेवा करने के कारण उनकी कृपा प्राप्त कर ही ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश आदि दूसरों को शाप, वरदान तथा शक्ति देने में समर्थ होते है—

गुरोः कृपा प्रसादेन
ब्रह्मा विष्णु सदाशिवाः ।
समर्थाः प्रभवादौ च
केवलं गुरु सेवया ॥

किन्नर, देव, पितुर, यक्ष तथा मुनी लोग अपने अहंकार के वश रहते है अतः गुरु सेवा पराङ्मुख होने के कारण तप और विद्या से युक्त होने पर भी संस्कार-चक्र से नहीं छूट पाते। रावण ने भी तप और विद्या के बल से बड़ी-बड़ी सिद्धियां प्राप्त करली थीं किन्तु उसमें अपने तप का अहंकार था। गुरु सेवा न करने के कारण उसकी विद्या दूसरों के विनाशमें काम आती थी। आत्म-कल्याण के मार्ग से वह दूर हट गया था। कल्पान्त होने पर तथा सर्व-सामर्थ्य पाने पर भी गुरुदेव का स्मरण अर्चन तथा उनकी सेवा करनी चाहिए। उनकी सेवा के प्रताप से योगी निःसंग, एकाकी शान्त तथा निस्पृह होकर निर्विकार स्थिति को प्राप्त करता है।

साधन, भजन आदि के लिए अनेक प्रकार के विधि निषेध शास्त्रों ने बताये हैं किन्तु सद्गुरुदेव के आदेश से तथा उनके सान्निध्य तथा उनके स्थान पर अनुष्ठान, साधन तथा भजन करने पर सद्य फलदायी होते हैं। श्री गुरुदेव के सन्तोष मात्र से जप तप आदि क्रियायें तत्काल सिद्ध हो जाती हैं। भगवान सदाशिव कहते हैं—

आकल्प जन्मना कोट्या
जपव्रततपः क्रियाः।
तत्सर्वं सफलं देवि !
गुरु संतोष मात्रतः ।।

—स्कन्द पुराण १७१

विद्या बल, तपोबल, धन, कुल तथा पद प्रतिष्ठा के अभिमान से जो लोग गुरु की कृपा प्राप्त नहीं करते वे बहुत बड़े मन्दभागी हैं। जो गुरुगत हैं उनको और तीर्थों की जरूरत नहीं है—'गुरुभावः परं तीर्थम् अन्य तीर्थं निरर्थकम् ।' आनन्दकन्द श्री प्रभुजी अपने श्रीमुख से कहा करते थे 'जहां कोई इष्ट होता है वहां कोई अनिष्ट नहीं होता।' जब श्री गुरुदेव के साथ भ्रमरकीट ध्यान विधि से अनन्यता तथा एकता हो जाती है तो ऐसा भी देखा गया है कि गुरुदेव शिष्य के ऊपर आये कठोर संस्कारों को स्वयं ले लिया करते हैं या सूक्ष्म में उनका भुगतान करा दिया करते हैं। यह होता तभी है जब शिष्य हर क्षण अपने सत्गुरुदेव के ध्यान में डूबा रहता है। ध्यानयोग की ऐसी महिमा है कि बुरी घड़ी टल जाती है। गुरुदेव के देने से ही उनकी सम्पत्ति मिलती है। चोरी से या धोखे से कोई उसे नहीं पा सकता।

श्री गुरुदेव की महिमा को शेषनाग भी अपने हजारों फनों से नहीं वर्णन कर सकता फिर अन्य किसी की क्या बात ? इस संसार में असली के भाव में नकली माल भी बिकता है। प्रायः लोग असली के धोखेमें नकली माल ले आते हैं, उससे कहीं कोई असली माल भी उन्हें मिल जाय तो उन्हें विश्वास नहीं होता। वे असली माल को भी शक की नजर से देखते है। आजकल दुनिया में शिष्य तो ढूंढने से भी शायद कहीं मिलेगा, गुरु हर कदम पर मिल जायेंगे। शब्द-जाल का सहारा लेकर श्रद्धावान् हृदयों को गुरु नाम के पाखण्डी प्रायः जिन्दगी भर ठगाते रहते हैं। गुरुदेव की पहचान विवेक की आंख से होती है। जिनके मिलने से मन के सन्देह निवृत्त हो जायें, समझिये कि वे गुरु कल्याण करेंगे। संस्कृति के महाकवि कालिदास सन्देह की स्थिति में कैसे निश्चय किया जाय। इसके लिए एक सूत्र देते हैं—"प्रायः सन्देह पदेषु वस्तुतः प्रमाण मन्तः करणः वृत्तयः।" जहां सन्देह हो वहां मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की बात को ही प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि अन्तः-

करण शायद ही धोखा देता है। चोर का अन्तःकरण भी चोर से यही कहता है कि यह खोटा काम है, इसे न कर।

एक भाई राजनीति और राजपद की चमक-दमक में रहने के कारण अपने को कुछ समझते थे। वे एक सिद्ध पुरुष के पास दूसरों से सुनकर आये थे। उन्होंने आते ही महात्मा से प्रश्न किया—आप कैसे गुरु हैं? गुरु तो मैं भी हूँ। बड़े-बड़े गुण्डों को मैंने चेला बना रखा है? आप में मुझसे अधिक क्या है, जिससे मैं भी आपको गुरु मानूँ? महात्मा ने सहज मुस्कान से कहा—हाँ लल्ला! ऐसी कोई बात तो नहीं लगती? ऐसा कहते हुए उन्होंने उनके सिर पर हाथ रख दिया। हाथ रखते ही उनकी भस्त्रा (प्राणों की विशेष गति जिसमें चित्त एकाग्र हो जाता है) चलने लगी और वे ध्यानस्थ हो गये। गुरु को विदेशी डिग्री का प्रमाण-पत्र देने की जरूरत नहीं है। उसका यही प्रमाण-पत्र बहुत है। भगवान सदाशिव योगमार्ग का उपदेश करते हुए जगत की आदि शक्ति भगवती भवानी से कहते हैं—

मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्त्तव्यो मोक्षहेतवे।

(योगबीजम् ८६)

अर्थात् मोक्ष की इच्छा करने वाले व्यक्ति को सर्व प्रथम प्राणों पर नियन्त्रण करना चाहिये, क्योंकि प्राण और मन का गहरा सम्बन्ध है। हठयोग प्रदीपिका में बताया गया है कि मन जहाँ लीन होता है प्राण भी वहीं लय हो जाते तथा जहाँ प्राणलय हो जाते हैं वहीं मन भी लीन हो जाता है तथा मन के पूर्ण लय हो जाने पर कैवल्य प्राप्त हो जाता है:—

मनो यत्र विलीयेत,
पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र,
मनस्तत्र विलीयते॥

(वही २३)

× × ×

ज्ञेयवस्तु परित्यागाद्,
विलयं याति मानसम्।
मनसो विलये जाते,
कैवल्यमव शिष्यते॥

(वही ६२)

प्राणजय का उपाय क्या है अथवा प्राणजय कैसे होते हैं? योगिराज श्री गोरखनाथ ने उसका संकेत किया—

मरुज्जयो यस्य सिद्धे-
त्सेवेच्च गुरु सदा।
गुरुवक्त्र प्रसादेन,
कुर्यात्प्राणजयं बुधः॥

(योगबीजम् ९१)

अर्थात् सामर्थ्यवान सद्गुरुदेव के मुख को

प्रसन्नता प्राप्त कर प्राणजय करना चाहिए। सामर्थ्यवान गुरुदेव की पहचान भी यही है कि जिनके आदेश से प्राण हरकत करने लगें और चित्तवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाय। मन की एकाग्रता होने लगे। उसके लिए सामर्थ्यवान् गुरुदेव अपने संकल्प से साधक को भस्त्रा प्राणायाम सिद्ध करा देते हैं। जिनकी कृपा से ऐसा हो जाय उनकी सेवा सब संशय छोड़कर यदि साधक करता चला जाय तो वह निश्चित ही कल्याण-पथ पर अग्रसर होता जावेगा। ऐसे गुरुदेवके शब्दों से कुछ कहें या न कहें कुछ क्रिया करायें या न करायें, अन्दर ही अन्दर चुपचाप ऐसी कृपा जमा देते हैं कि भाग्यशाली साधक को बड़ी-बड़ी अद्भुत सिद्धियां सहज रूपसे मिल जाती हैं। उन सबका वर्णन करना उपयुक्त भी नहीं और न सम्भव है, क्योंकि उससे इस मार्ग के बहुत से भेद खुल जायेंगे और अनाधिकारी व्यक्ति उनका दुरुपयोग करेंगे, तथापि यहां कुछ विभूतियों का उल्लेख करता हूँ।

(१) श्री सद्गुरु की प्रसन्नता और कृपा से प्राणवायु पश्चिमवाही (विपरीत) होता है, जिससे ब्रह्म-ग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि तथा रुद्र-ग्रन्थियों का भेदन होकर निश्चल तत्वमें योगी स्थित होता है। सर्व सिद्धि प्राणायाम गुरुदेव की कृपा से स्वतः सिद्ध हो जाते हैं।

(२) सहजावस्था की प्राप्ति श्री गुरुदेव की कृपा के बिना नहीं हो सकती—

दुर्लभा सहजावस्था श्रीगुरोः करुणां विना।

(हठयोग ९)

(३) कुण्डलिनी नाम की महाशक्ति प्राणियों में प्रसुप्त अवस्थायें रहती है, जिससे जीव पशुवत् जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा रहता है, श्री गुरुदेव की कृपा से ही कुण्डलिनी जागकर सुषुम्ना-पथ से ऊर्ध्व केन्द्रों में गमन करती है, जिससे सभी चक्र खुल जाते तथा सभी ग्रंथियां खुल जाती है। हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है :—

सुप्ता गुरुप्रसादेन,
यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि,
भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥

(४) मुद्रा में महासिद्धि देने वाली हैं। सहजोली, वज्रोली, अमरोली, शांभवी, खेचरी महामुद्रा, शक्तिचालनी मुद्रा, उन्मनी मुद्रा, भूचरी मुद्रा आदि मुद्रायें साधना से बड़ी कठिनाई से सिद्ध हो पाती हैं। उनकी सिद्धि का मनोवांछित फल गुरु-कृपा के बिना नहीं मिलता। श्री गुरुदेव की करुण कृपा से सोते-सोते ही कुछ साधकों को कई मुद्रायें सिद्ध होते हुए देखी गई हैं। हठयोग प्रदीपिका में संकेत किया गया है कि—

उपदेश हि मुद्राणां यो,
दत्ते साम्प्रदायिकम्॥

एष एव श्रीगुरुः स्वामी,
साक्षादीश्वर एव सः ॥ १२९
तस्य वाक्यपरो भूत्वा,
मुद्राभ्यासे समाहितः
अणिमादि गुणैः सार्द्धम्,
लभते कालवंचनम् ॥ १३०

अर्थात् जो परम्परा से सिद्धविद्या प्राप्त कर योग की बन्ध मुद्राओं आदि क्रियाओं का उपदेश करता है वह जितेन्द्रिय तथा जितश्वास सर्व ऐश्वर्यों तथा सामर्थ्यों से परिपूर्ण ईश्वर कोटि का है। उन्हें सद्गुरु समझना चाहिए तथा उनके उपदेश पर चलकर मुद्राओं का अभ्यास करते रहना चाहिए। गुरुदेव की कृपा से उसमें अणिमादि सिद्धियां प्राप्त हो जाती तथा मृत्यु उसके आदेश की प्रतीक्षा करती है।

(५) प्रत्याहार और धारणा, ध्यान एवं समाधि भी गुरुदेव की कृपा से मिलती है। नादानुसंधान भी उनकी कृपा होने पर होने लगता है, जिससे मनोलय शीघ्रतासे हो जाता है और पापकर्मों का जल्दी क्षय हो जाता है। इसी प्रकार मुद्राओं के अभ्यास से आसनसिद्धि तथा प्राणायाम सिद्धि जिसे प्राणजय कहते हैं, शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं। अतः जिस पर गुरुदेव कृपा करते हैं उसे छोटे रास्तेसे आगे ले चलते हैं और उसे मुद्राओं की सिद्धि करा देते हैं। मुद्राओं द्वारा मनोलय शीघ्रता से हो जाता है तथा "अनुत्थासनोत्थानाल्लयो विषय विस्मृतिः।" (हठयोग ३४)। वासनाओं की तरंगें बिल्कुल शान्त हो जाती हैं जिससे योगी निर्विकार तथा कूटस्थ स्थिति में रहने लगता है। विषयों के बीच में रहता हुआ भी वह कहीं और रहने के कारण विषयों से अछूता बना रहता है। उदाहरण के लिए उल्टी पुतलियों से अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि युक्त अपलक स्थिति होती है जिसे शाम्भवी मुद्रा कहते हैं। इस मुद्रा से चित्त और प्राण दोनों की आनन्द-सागर में निमग्न हो जाते हैं। यह श्रीगुरुदेव की महती कृपा के फलस्वरूप किसी-किसी भाग्यशाली को मिलती है। इसके सम्बन्ध में हठयोग प्रदीपिका में कहा गया है—

मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति।
सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः ॥

इसी प्रकार खेचरी मुद्रा व्योमचक्र में प्राणस्थित होने पर श्री गुरुदेव की कृपा से खेचरी सिद्ध होती है, जिससे उन्मनी अवस्था अर्थात् मन बाह्य व्यापार छोड़कर आत्मा से युक्त हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करता है। व्योम-चक्र में संयम सिद्ध होने पर मन वहीं लय हो जाता है, उसे ही शिव स्थान कहा गया है। वहां स्थित होने पर योगी काल की सीमा के परे निकल जाता है।

इस प्रकार सर्व समर्थ श्री गुरुदेव इस असहाय जीव को भिखारी, दाता, मरणधर्मा से अमृत-पुत्र तथा ऋद्धि-सिद्धियों का स्वामी बना देते हैं। सन्त तुलसी ने इसलिए ठीक ही कहा है—

गुरु बिन भवनिधि तरइ न कोई।
जो बिरंचि शंकर सम होई ॥

अतः जिस भाग्यशाली को सद्गुरु की कृपा मिल गई, उसके माता-पिता का जन्म देना धन्य हो गया। जिस कुल में उसने जन्म लिया वह कुल भी पवित्र हो गया और ऐसे व्यक्ति के निवास से पृथ्वी भी धन्य है।

साधकों के प्रश्न तथा उनके उत्तर

(श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा)

योगाचार्य श्री तपोनिधि जी का पवित्र आश्रम है। भगवती भागीरथी का अपूर्व शोभा वर्णनातीत है। इधर-उधर से साधु, संत महात्मा अपने नैत्यिक स्नान पूजन में लगे हुए हैं। आश्रम में सत्संग का अपूर्व समारोह है। अपने-अपने मति भेद के अनुसार विभिन्न प्रान्तों से आये हुए वक्ता लोग अपने-अपने विचार प्रगट कर रहे है। योगाचार्य श्री तपोनिधिजी का आज का उपदेश सुख और शांति से भरा हुआ था। उन्होंने आज अपने उपदेश में सत्य और अस्तेय के मौलिक सिद्धान्त सुनाये। सभी श्रोताओं की मानस शंकायें सुनने मात्र से स्वतः हीं पूर्ण हो गयीं, फिर भी व्याख्यान के बाद शंका समाधान का समय रखा गया था। इस शंका समाधान के समय में अपनी-अपनी मतिभेद के अनुसार साधकों ने प्रश्न करने प्रारम्भ कर दिये। इन सभी में से ब्रह्मदत्त नाम के एक योग-जिज्ञासु ब्रह्मचारी ने गुरुदेव के सामने नम्र भाव से प्रश्न किया।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! सत्य और अस्तेय के पवित्र व्याख्यान को सुनकर मेरे मन में बहुत बड़ी प्रसन्नता बढ़ी और सभी संशयों का नाश हो गया। अब कृपा करके आप मुझे यमों में चौथे यम ब्रह्मचर्य के विषय में कुछ शिक्षा दीजिये जिससे कि मैं ब्रह्मचर्यव्रत की शिक्षा को पाकर अपने आपको कृतार्थ कर सकूँ। उसके साथ ही साथ मैं अपरिग्रह के स्वरूप को भी जानने की इच्छा रखता हूँ।

उत्तर—हे पुत्र ! ब्रह्मचर्य की महिमा से हमारे शास्त्र ओत-प्रोत हैं, किन्तु आजकल के समाज में दुर्व्यसनों के अधिक मात्रा में बढ़ जाने के कारण ब्रह्मचर्य जीवन प्रायः लुप्त सा ही है। वीर्य धारण करने को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। वीर्य को हमारे शास्त्रों में ब्रह्मरूप से कथन किया है। जो वीर्य को धारण करे वह ब्रह्मचारी कहलाता है। वीर्य हमारे शरीर में सातवीं धातु है उसका स्वरूप हमारे शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है—

शुक्रं सोम्यं सितं स्निग्धं
बल पुष्टिकरं स्मृतम् ।
गर्भबीजं वपुः सारो
जीवनाश्रम उत्तमः ।।

मनुष्य जब अन्न सेवन करता है उससे रस

बनता है, रस के बाद रक्त, रक्त के बाद मांस, मांस के बाद मेद, मेद के बाद हड्डी (अस्थि), अस्थि के बाद मज्जा, मज्जा से वीर्य बनता है और वीर्य से ओज की उत्पत्ति होती है। जो मनुष्य को देदीप्यमान रखता है। वीर्य सम्पूर्ण शरीर को आधार, जीवन का आशय और परम पुष्टिकर है। जिस प्रकार से दूध में घी और ईख के रस में गुड़ व्यापक रहता है। इसी प्रकार से वीर्य सारे शरीर में व्यापक रहता है। इसी से मन और बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। यही सर्व सिद्धियों का मूल है। शिव-संहिता में भगवान शंकर ने ऊंचे शब्दों में आज्ञा की है।

मूलम्-मरणं बिन्दु पातेन,
जीवनं बिन्दु धारणे।
तस्मादति प्रयत्नेन,
कुरुते बिन्दुधारणम् ॥ ८८
मूलम्-जायते म्रियते लोके,
बिन्दुना नात्र संशयः।
एतज्ज्ञात्वा सदा योगी,
बिन्दुधारणमाचरेत। ८९
मूलम्-सिद्धे बिन्दौ महायत्ने,
किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा,
ममाप्येतादृशो भवेत ॥ ९०

अर्थात् बिन्दु के पतन से मरण व बिन्दु के धारण से जीवन होता है। प्राणी का जन्म मरण बिन्दु से ही होता है। इसलिये योगी को प्रयत्न करके बिन्दु धारण करना चाहिए। यत्नपूर्वक जय कर लेने पर संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो सिद्ध न किया जा सके। भगवान कहते हैं—मेरा जो कुछ प्रभाव संसार में दिखलाई देता है वह केवल वीर्य धारण से ही है। ब्रह्मचर्य के नियम बहुत बड़े-बड़े हैं। शास्त्र विधि से ब्रह्मचारियों की दो संज्ञायें रखी गई हैं—(१) नैष्ठिक, (२) उपकुर्वाण।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! आपने ब्रह्मचारी शब्द की व्याख्या करके जो कुछ मुझे समझाया, उसको सुनकर व समझकर मेरे मन में बहुत ही प्रसन्नता बढ़ी। आपकी कृपापूर्वक यह पूर्ण आशा है कि मैं अवश्य ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूंगा। कृपा करके मुझे यह और समझा दीजिये कि क्या ब्रह्मचारियों के कोई अन्य भेद भी होते हैं और यदि होते हैं तो उनके नाम क्या-क्या होते हैं? और उन नामों के अनुसार उनके अन्दर किस-किस प्रकार से गुणों का उत्कर्ष हुआ करता है? कृपा करके ये बातें मुझे और समझा दीजिये ताकि मुझे सभी सिद्धान्तों की जानकारी हो जाये और मैं ब्रह्मचर्यव्रत के अलौकिक लाभों को प्राप्त कर सकूं?

उत्तर—हे पुत्र ! ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ तो एक ही है और वह—"ब्रह्मणि चरितो शीलमस्यास्तीति ब्रह्मचारी।"

अर्थात् जिस व्यक्ति की ब्रह्म में विचरने की आदत पड़ गई है वही ब्रह्मचारी कहलाता है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! ब्रह्म में विचरने की आदत तो एक गृहस्थ की भी हो सकती है, फिर क्या वे लोग भी ब्रह्मचारी हैं।

उत्तर—हे पुत्र ! अवश्य गृहस्थी भी ब्रह्मचारी हो सकते हैं। इस विषय में मनुजी महाराज अपनी मनुस्मृति में लिखते हैं कि—

ऋतुकालाभिगामिस्यात् स्वदारनिरतः सदा ब्रह्मचार्य्येव भवति यत्र तत्र आश्रमे वसन् ।

अर्थात् जो लोग गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ऋतुकाल के बाद में ही केवलमात्र सन्तानोत्पत्ति के लिए सहवास करते हैं और केवल मात्र अपनी पत्नी में ही प्रेम करते हैं, वे लोग जिस किसी भी आश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी ही हैं। क्योंकि हमारे शास्त्रों में वीर्य को ब्रह्म माना गया है। एक ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य बल के प्रभाव से स्वतः ही ब्रह्मस्थ हो जाता है और सकल शक्तियों का केन्द्र बन जाया करता है। तुमने ब्रह्मचारियों के भेद पूछे हैं कोई खास भेद तो नहीं होते किन्तु नाम मात्र के लिए नैष्ठिक व उपकुर्वाण भेद होते हैं।

प्रश्न—हे गुरुदेव ब्रह्मचारियों के नैष्ठिक व उपकुर्वाण आदि क्या भेद होते हैं। कृपाकर उनका रूपक मुझे समझाइये।

उत्तर—हे पुत्र सुनो ! शास्त्र विधि से ब्रह्मचारियों की दो संज्ञायें हैं—

(१) नैष्ठिक, (२) उपकुर्वाण।

(१) नैष्ठिक—नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो जीवन पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे। उदाहरणार्थ—भीष्म-पितामह, शंकराचार्य, आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द हुए हैं।

(२) उपकुर्वाण—उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो समय की अवधि तक ब्रह्मचर्य आश्रम का पूर्ण रूप से पालन करके गृहस्थ में प्रवेश कर जाये किन्तु किसी भी संज्ञा का कोई भी ब्रह्मचारी हो, ब्रह्मचर्य अवस्था में मैथुन त्याग परमावश्यक है।

कर्मणा मनसा वाचा,
सर्वावस्था सुसर्वदा ।
सर्वत्र मैथुन त्यागो
ब्रह्मचर्य प्रचक्षते ॥

जो सब अवस्था में मन वाणी कर्म से सर्वथा मैथुन का त्याग करता है। वही ब्रह्मचारी कहलाने का अधिकारी है।

मनुस्मृति आदि में ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए बहुत बड़े-बड़े नियम लिखे हैं। लेख के बढ़ जाने के भय से इन सबका यहाँ उदाहरण करना आवश्यक नहीं समझता। किन्तु इस

विषय में सभी शास्त्रों का एकमत है कि मन से भी ब्रह्मचारी को विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः
सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः
कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः
संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद बुद्धिनाशो
बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

—गीता २/६२-६३

अर्थात् विषयों का चिन्तन करने से मनुष्य को संग व संग से काम, काम से क्रोध और क्रोध से मोह, मोह से स्मृतिभ्रंश और स्मृतिभ्रंश से बुद्धि नाश और नाश से सर्वनाश हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार जो मनुष्य चिन्तन मात्र से विषयों का स्मरण नहीं करता वही ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर सकता है अन्यथा नहीं। जिसने इस ब्रह्मचर्य रूप महाशक्ति को धारण कर लिया है, उसने संसार को जीत लिया है। ब्रह्मचारी में सिद्धों की तरह शक्तिपात करने की योग्यता आ जाती है। भगवान पतञ्जलिदेव ने ब्रह्मचर्य धारण का फल एक सूत्र में बतलाया है—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

—योग सूत्र २/३८

ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा में पूर्ण सामर्थ्य लाभ होता है। इसी सूत्र का भाष्य करते हुये भगवान व्यासदेव जी कहते हैं—

यस्य लाभाद् प्रतिघान्गुणानुत्कर्षोयतिः सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति ।

अर्थात् इस ब्रह्मचर्य के धारण करने से अनुपम गुण बढ़ते हैं और पूर्ण ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मचारी अपने शिष्यों में शक्ति-संचार करके ज्ञान धारण करा सकता है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! आपने बतलाया कि ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करने से ब्रह्मचारी अपने अलौकिक गुणों को आकर्षित कर लेता है और इसके साथ ही 'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभ' कह करके वीर्य लाभ की बात बतलाई। क्या वीर्यलाभ शब्द से शरीर की सप्तम धातु वीर्य ही बढ़ता है या वीर्य लाभ का कोई और अभिप्राय है जिससे शरीर में शक्ति का अतुलित विकास हो ?

उत्तर—हे पुत्र सुनो ! वीर्य नाम शक्ति का है। ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करने से योगी के शरीर में अतुलित शक्तियों का उदय हो जाया करता है। यदि ब्रह्मचारी थोड़ी सी भी अपनी वृत्ति को अन्तर्मुखी बनाता है तो वह सकल शक्तियों का अधिष्ठान बनता है। यही कारण है कि भगवान पतञ्जलिदेव महाराज ने

'ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभ' कह करके अतुलित शक्ति प्राप्त करने का संकेत दिया है। और साथ ही यह भी कहा है कि—

ब्रह्मचारी विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति।

अर्थात् ब्रह्मचारी अपने अन्दर उत्कृष्ट गुणों को धारण करके अपने विनीत शिष्यों के अन्दर शक्ति का आधान करने की ताकत प्राप्त कर लेता है। शक्ति का आधान वही व्यक्ति कर सकता है जिसके अन्दर शक्ति हो। यदि किसी के अन्दर शक्ति है ही नहीं तो वह शक्ति का आधान करेगा ही क्या! शक्ति वाला व्यक्ति ही शक्ति का आधान कर सकता है और इसपर भी यदि मनुष्य उर्ध्वरेतस्थ ब्रह्मचारी हो जाये तब तो उसकी शक्ति का कहना ही क्या है। उसका मस्तिष्क शक्तियों का केन्द्र बन जाया करता है और उर्ध्वरतस्थ ब्रह्मचारी के मन में किसी प्रकार की कामवासनाओं की जाग्रति ही नहीं होती। उसका मन तो प्रतिक्षण समाधी की ओर ही भागता रहता है।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ऊर्ध्वरेतसता का क्या अर्थ है और ऊर्ध्वरेतसता किस प्रकार से प्राप्त हो सकती है। कृपा करके बतला दीजिए?

उत्तरः—हे पुत्र सुनो! उर्ध्वरेतसता का यह अर्थ है वीर्य की उर्ध्वगति! हर मनुष्य के नाभि मण्डल में वीर्य की स्थिति रहती है। यदि मनुष्य का मन वासनाओं में घूमता रहता है तो येन केन प्रकारेण उसके वीर्य की अधोगति अर्थात् स्खलन हो ही जाया करता है। किन्तु यदि ब्रह्मचारी किसी प्रकार की साधना से उर्ध्वरेतसना प्राप्त कर लेता है, तो वह स्खलन से रहित हो जाया करता है एवं अतुलित शक्ति को प्राप्त कर लिया करता है। उर्ध्वरेतसता प्राप्त करने के लिये प्राणायाम की दो विधियों का तुम्हारे सामने वर्णन करते हैं। उनको तुम पढ़ लो। इनको पढ़कर यदि तुम इस साधना को बढ़ाना चाहोगे तो अवश्य उर्ध्वरेतस्थ हो जाओगे एवं इस विधि से प्राणायाम करने पर अतुलित शक्ति को प्राप्त कर सकोगे।

उर्ध्वरेतस प्राणायाम की प्रथम विधि—

योगासन करने वाले साधक त्रिकोण आसन को भली प्रकार जानते हैं। पहले साधारण रूप से सीधे खड़े हो जायें फिर सहसा अपने प्राणों को नासिका रन्ध्रों से एकदम बाहर निकाल दें और निकाल देने पर नाभि के नीचे के भाग को जहाँ पर मलमूत्र विसर्जनी नाड़ियां रहती हैं उस भाग को अपने दाहिने हाथ से बायीं ओर से दाहिनी ओर मल करके प्राणको बाहर रोके हुए ही बायीं ओर को घुटना झुकाकर त्रिकोण आसन कर लें और उसके बाद में धीरे-धीरे प्राण को भीतर ले आयें किन्तु भीतर रोकने की आवश्यता नहीं है, फिर प्राणों को

समान गति से चलने दें, इसी प्रकार से फिर दूसरी बार पूरे प्राण कोष को बाहर निकाल कर नाभि के नीचे के भाग फिर दाहिने हाथ से ऊपर की ओर मलकर प्राण को बाहर रोके हुए दाहिनी ओर का घुटना झुका करके त्रिकोण आसन की विधि से आसन करें। जब तक प्राण बाहर रहे तब तक उस आसन को कायम रखें और ज्यों ही घबड़ाहट शुरू हो और प्राण भीतर जाने लगे तो आसन भी छोड़ दें, साथ-साथ यह धारणा करते रहें कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षित कर रहा हूं। ऐसा करने से मूत्राशय और मलाशय के ऊपर रहने वाला वीर्य कोष भी अवश्य ऊपर की ओर आकर्षित हो जायेगा। और इस क्रिया को करने वाला व्यक्ति उर्ध्वरेतस हो जायेगा।

ऊर्ध्वरेतस प्राणायाम की द्वितीय विधि—

सिद्धासन में बैठ जाइये! साधारण रूप से अपने बायें पैर की एड़ी को गुदा द्वार के आगे लिंग नाल के नीचे दृढ़ता से जमा कर रखें और दूसरे पैर की एड़ी को लिंग नाल के ऊपर रखें, वह एड़ियां इस प्रकार रखी हों जिनकी ग्रन्थि भाग (टाकनी) बिल्कुल समसूत्र रूप से मिले हुए हों, इस प्रकार जमायें। नीचे की एड़ी को थोड़ा दृढ़ रखें जहां यह एड़ी रखी जाती है वहीं से वीर्य वाहिनी नाड़ी जाती है इसके दबाव से वह नाड़ी दब जाती है और इस नाड़ी के दब जाने से मनके वासनिक आकर्षण कम हो जाते है इस प्रकार अपने पैरों को जमाकर और दोनों हाथों को घुटनों पर जमाकर समकाय शिरोग्रीव की विधि के अनुसार शरीर को सम सूत्रता में रखकर सीधा बैठ जावे। ठोड़ी को थोड़ा झुकाकर छाती में लगाये, पेट भीतर की ओर खिंचा हुआ हो इसको सिंहासन कहा है। इस आसन से बैठकर ऊपर बतलाई विधि के अनुसार अपने सारे शरीर के प्राण को एकदम बाहर निकाल दे, और उड्डयान बन्ध लगा ले। उड्डयान बन्ध के साथ-साथ मूलद्वार का आकर्षण भी ऊपर की ओर स्वाभाविक हो जायेगा। प्राणों को बाहर की ओर रोके रखें। जिस समय प्राण बाहर रुका हुआ हो और उड्डयान बन्ध लगाकर मूलद्वार का ऊर्ध्वाकर्षण किया हुआ हो उस समय अपने मन में धारणा करे कि मैं अपने वीर्य को ऊपर की ओर आकर्षण कर रहा हूं, फिर उसके बाद जब घबराहट हो तो प्राण को अन्दर ले आयें किन्तु अन्दर रोकें नहीं। इस प्रकार के तीन प्राणायाम रोज करने से वीर्य विकारों में बड़ा अनुपम लाभ होता है। और इसके साथ-साथ उपयुक्त खान-पान मिलता हो तो इन्हीं प्राणायामों को २०-२१ तक भी बढ़ाया जा सकता है किन्तु हर साधक को अधिक मात्रा में प्राणायाम नहीं करना चाहिये केवल मात्र वीर्य विकार वाले

रोगियों को रोग निवृत्ति के लिये दो या तीन प्राणायाम कर लेना चाहिये, ऐसा करने से उनको अवश्य अनुपम लाभ होगा।

शिष्य—हे गुरुदेव ! आपकी कृपापूर्वक प्राणायाम की ऊर्ध्वरेतस विधियों को भली प्रकार समझ लिया है एवं ब्रह्मचर्य पालन के नियमों को भी भली प्रकार से जान लिया है और यह भी मैं भली प्रकार से समझ गया हूँ कि ब्रह्मचारी के अन्दर अनोखे गुण व शक्तियों का समावेश हो जाया करता है। मैं अब आपकी आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने ब्रह्मचर्यव्रत का पूरी तरह से पालन करने का प्रयत्न तो करूँगा किन्तु मेरे मन में एक बड़ी भारी शंका पैदा होती है और वह यह है कि आजकल युग प्रवाह तो बहुत ही गलत चल रहा है। आजकल के समय में बचपन में ही वासनाओं के दृश्य दिखला दिये जाते हैं जिसके फलस्वरूप मन अत्यन्त ही चञ्चल बन जाता है। ऐसी स्थिति में मन का सँभालना बहुत ही कठिन मालूम पड़ता है क्योंकि वासनिक दृश्यों को देखकर मन तो बिल्कुल वासना-भोगी बन ही जाता है। ऐसी स्थिति में ऐसे भ्रष्ट मन की सँभाल कैसे हो पायेगी। जबकि भगवान श्रीकृष्ण अपनी श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में इस बात को स्वयं स्वीकार कर रहे हैं—

यततो ह्यपि कौन्तेय
पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि
हरन्ति प्रसभं मनः ॥

अर्थात् बड़े ही बुद्धिमान विपश्चित व्यक्ति इन्द्रियों पर नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु प्रयत्न करने पर भी वे अपने आपको सँभाल नहीं पाते। इन्द्रियों का वेग इतनी प्रबलता से मसल डालने वाला है कि ये इन्द्रियां पुरुष के मन को जबरदस्ती वेग के साथ खींचकरके वासना के आकर्षक स्वरूप में लगा ही देती हैं। ऐसी स्थिति में क्या किया जाये ? ब्रह्मचर्य व्रत का किस प्रकार पालन किया जाये ? इसका उपदेश और कृपा करके आप मुझे दीजिये ताकि मैं अपने आपको संभाल सकूँ एवं पूर्णरूपेण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर सकूँ ?

उत्तर—हे पुत्र ! प्रश्न तो तुम्हारा बिल्कुल ठीक है, उसमें पहली बात तो यह है—ऐसे व्यक्तियों को जो कि वासनिक प्रवाह में प्रवाहित हो चुके हैं उनका मन पर साधारणतया नियन्त्रण कर लेना बहुत ही कठिन हो जाया करता है। किन्तु जो लोग प्रगाढ़ मन से प्रयत्नशील रहते हैं उनको सफलता मिल भी जाया करती है। ऐसे व्यक्तियों को चाहिये कि वह नित्य नियम से अपने शारीरिक व्यायाम को किया करें। व्यायाम करने वाले साधकों का वीर्य शरीर में व्यापक हो जाया करता है और वह फिर लोलुपता को नहीं बढ़ाता, किंतु

इसके बाद में भी उन लोगों को अपनी नियमावली कुछ ऐसी बनानी चाहिए कि वे अपने मन को खाली न रहने दें। अपने को दैनिक कार्यक्रमों में व्यस्त रखें। तुमने यह लोकोक्ति सुनी ही होगी कि "खाली मन शैतान का वास।" जो व्यक्ति कुछ भी काम नहीं करते और अपने शरीर को बहुत ही आराम परस्त बना देते हैं और अपने जीवन का लक्ष्य, केवल मात्र खाना पीना और शय्याओं में पड़े रहकरके सब दिन सोते रहना, ऐसे व्यक्ति कभी भी दुर्व्यसनों से खाली नहीं रह सकते। ना ही वे लोग ऊर्ध्वरेतस बन सकते हैं। ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी तो वही बन सकता है जो अपना नैत्यिक व्यायाम योगासन आदि नित्य नियम से करता है, उनका वीर्य शरीर में व्यापक हो जाता है और इसके साथ-साथ जो लोग अपनी दिनचर्या को बनाये रखते हैं। सब दिन किसी भी समय मन को खाली नहीं रहने देते। जो लोग बिजनेस, व्यापार वाले हैं वे लोग दुकानों पर जाकर व्यस्त हो जाया करते हैं और सब दिन अपना बिक्री का कार्य करते रहते हैं उनका मन खाली नहीं हो पाता, व्यस्तता इतनी अधिक रहती है कि मन को वासनिक चिन्तन का समय ही नहीं मिल पाता। और इस ही प्रकार जो लोग दफ्तरों में जाकर सरकारी कार्य करते हैं वे उन कार्यों में अपने आपको व्यस्त बनाये रखते हैं। इसी प्रकार पठन-पाठन में लगे रहने वाले व्यक्ति सब दिन अपने अध्ययन कार्य को करते रहते हैं, एवं नियमावली बनाकर रखते हैं उनका भी मन खाली नहीं हो पाता। इससे जीवन व्यस्ततापूर्ण रहने पर मनको इतर सोचने का समय मिलता ही नहीं। इसलिए नैत्यिक व्यायाम करना, ऊर्ध्वरेतस प्राणायाम करना और जीवन को व्यस्त रखना, मन को खाली न रहने देना, ये सब बातें मन को संयमित रखने की सीढ़ियां हैं। इस ही साधना स्तम्भ का सहारा लेकर जो व्यक्ति उठना चाहेगा वह अवश्य उठ ही जायेगा। और जो व्यक्ति इस नियमानुवर्तिता की उपेक्षा करेगा उसका उत्थान बहुत ही कठिन हो जावेगा। इसलिये तुम उपरोक्त नियमों का पालन करो और अपने कार्यक्रमों को व्यस्ततापूर्ण बनाकर रखो ऐसा करने से सफलता को अवश्य ही पा सकोगे।

प्रश्न—हे गुरुदेव मैंने ब्रह्मचर्य सहित चार यम नियमों को तो भली प्रकार समझ लिया अब कृपा करके पांचवे यम अपरिग्रह के विषय में और थोड़ा सा समझा दीजिये ताकि यमों के पालन में तत्परता के साथ लग सकूं एवं सफलता प्राप्त कर सकूं।

उत्तर—हे पुत्र! अपरिग्रह का न होना अपरिग्रह कहलाता है। संसार के सब विषयों में और अपने शरीर में स्वत्व बुद्धि का नाश हो जाने पर प्राणी शरीर धर्मों से अपने आपको अलहदा देखता है और उसको अपने

पूर्व संस्कार स्मरण होने लगते हैं। मैं कौन था ? क्या था ? कैसा था ? क्यों था ? आगे क्या होऊँगा ? इस प्रकार की प्रवृत्तियां मन में घूमने लगती हैं। ऐसी भावना से शरीर धर्म में भी उपरति हो जाने के बाद उसको जन्म-जन्मान्तर की कथाओं का स्मरण होने लगता है। भगवान् पतञ्जलि जी लिखते हैं—

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथान्तासंबोधः ।

—योग सूत्र २/३९

अर्थात् पूर्णतः अपरिग्रह की स्थिरता हो जाने के बाद जन्म-जन्मान्तरों की कथाओं का प्रबोध होता है। यह सब यमों की सिद्धियां हैं।

यमों का पालन करता हुआ योगी जब अपने मन में यह विचार करता है कि मैं कौन था ? कैसे था ? कहां था ? जब उसके मन में इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं और वह परिग्रह से आगे उठ जाता है तो यौगिक संयम के आधार पर उस साधक को जन्म जन्मान्तर की जीवन कथायें याद आने लगती है। समाधि की एक भूमिका होती है उस भूमिका में मन पहुँच जाने पर योगी जो भी सोचता उसके मानस प्रश्नों का उत्तर उस व्यापक सत्ता से परम गुरु की कृपापूर्वक स्वतः ही होने लगता है। यही उसके जन्म-जन्मान्तरों की कथाओं के सम्बन्ध का एक कारण बनता है।

शिष्य—हे गुरुदेव आपके यमों की साधना पर होने वाले इस पवित्र व्याख्यान को सुनकर मेरा मन सावधान हो गया है। मैं रह-रह करके अपनी साधनाओं पर बार-बार विचार करता हूँ और उनको अपने जीवन में घटित करने के प्रयास में लगा रहता हूँ। मेरे मन में यह विश्वास पूर्ण हो चुका है कि आपकी कृपापूर्वक मैं इनमें सफलता को पा जाऊँगा। जैसा कि आपने मुझे पहले उपदेशों में समझा दिया है वैसे ही मैं अपने अध्ययन काल में भी अपनी कार्य प्रणाली को व्यस्ततापूर्ण बनाने के प्रयत्न में लगा रहता हूँ। अहिंसा के धर्मों को मैंने भली प्रकार समझ लिया है कि 'मनसा वाचा कर्मणा' किसी को दुःख न देने का रूपक ही अहिंसा है। इस ही प्रकार 'सत्य अस्तेय एवं ब्रह्मचर्य' के नियमों को भी भली प्रकार से समझ गया हूँ। अपरिग्रह के विषय में आपने मुझे भली प्रकार से समझा ही दिया है कि मन में यदि अपरिग्रह की स्थिरता हो जायेगी तो जन्म-जन्मान्तर के कथाओं का ज्ञान हो जाना स्वतः ही आरम्भ हो जायेगा। आपकी इस अवरणनीय अनुपम कृपा को पाकर मुझे पूरी-पूरी आशा हो गई है कि मैं अपनी योग साधना के उच्चतम लक्ष्य को आपके आशीर्वाद पूर्वक अब मैं अवश्य ही प्राप्त कर सकूँगा। आपने मुझ पर अपार अनुग्रह किया है अतः हे देवाधिदेव ! मैं आपके चरणारविन्द में बार-बार प्रणाम करता हूँ। ✿ ✿

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

शरीरेणाजिता सर्वे शरीरं योगिभिर्जित ।
तत्कथम् कुरुते तेषाम् सुख–दुःखादिकं फलम् ।।

—योग शिखोपनिषद्

शरीर ने सबको जीत रक्खा है किन्तु योगीजन शरीर को ही पहले जीतते हैं तब फिर उनको सुख दुःख कैसे व्यथा पहुँचायेंगे ?

× × × ×

युवावृद्धोऽतिवृद्धोवा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति सर्व योगेष्वतंद्रितः ।।

—हठयोग प्रदीपिका

यदि आलस्य छोड़कर योगाभ्यास किया जाय तो युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध-व्याधिग्रस्त, तथा दुर्बल सभी योग अभ्यास द्वारा सिद्धि प्राप्त कर सकते है।

× × × ×

योग संन्यस्तकर्माणं ज्ञान संछिन्न संशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्मांणि निबन्धन्ति धनंजय ।।

—गीता

जिसने योग के द्वारा सब कर्मों को नष्ट कर दिया है और जिसके समस्त संशय ज्ञान द्वारा छिन्न हो गये हैं, उस आत्म-ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति को कर्मराशि आबद्ध नहीं रख सकती।

× × × ×

मधुलुब्धो यथाभृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत् ।
ज्ञानलुब्धास्तथा शिष्यो गुरोर्गुर्वन्तरं व्रजेत् ।।

—कुलार्णवतन्त्र

जैसे मधु प्राप्ति के लिए भ्रमर एक फूल से दूसरे फूल पर जाता है वैसे ही ज्ञान पिपासु शिष्य एक गुरु से दूसरे गुरु के पास जा सकता है।

किन्तु ऐसा करते हुए पूर्व गुरु के प्रति अश्रद्धा अथवा अवहेलना का भाव नहीं होना चाहिए।

× × × ×

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योग शास्त्रम् परं मतम् ।

सब शास्त्रों को सुनकर, देखकर और बार-बार विचार कर एक मात्र यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि योग शास्त्र ही सब शास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ है।

× × × ×

प्राणायाम सुतीक्ष्णेन मात्रा धारेणयोगवित् ।
वैराग्योपल धृष्टेन छित्वा तन्तुं न बध्यते ॥

—क्षुरिकोपनिषद्

प्राणायाम द्वारा अत्यन्त तीक्ष्ण की गई तथा ओंकार रूपी धार वाली और वैराग्य रूप पाषाण पर घिसी हुई (मन रूपी) छुरी से संसार रूप सूत्र को काटकर योगवेत्ता पुरुष फिर उसके द्वारा नहीं बांधा जा सकता।

× × × ×

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो करुणाविना ॥

बिना सद्गुरु कृपा के विषयों से विराग होना दुर्लभ है। तत्व-दर्शन इससे भी अधिक दुर्लभ है। और सहजावस्था अर्थात् समाधि सिद्धि तो बिना गुरु-कृपा के अत्यधिक दुर्लभ है।

× × × ×

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता ॥

—कठोपनिषद्

शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य शरीर में, परब्रह्म के उत्तम निवास-स्थान में बुद्धिरूप गुफा में छिपे हुए सत्य का पान करने वाले (दो हैं) छाया और धूप की भांति परस्पर भिन्न हैं। (यह बात) ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष कहते हैं तथा जो तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन कर लेने वाले (और) पञ्चाग्नि सम्पन्न गृहस्थ हैं, वे भी यही बात कहते हैं।

* * *

(कुरुक्षेत्र में योग-प्रचार —पृष्ठ ८ का शेष)

तो उसमें चित्त-निर्माण की तदन्तर काय-निर्माण की शक्ति आ जाया करती है। एक बार श्यामबिहारी शुक्ल के इष्ट-मित्रों ने पूछा कि महाराज ! क्या आप भी काय-निर्माण कर सकते हैं ? उन्होंने कहा हां, मैं कर सकता हूँ ? उन्होंने आठ व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न स्थान पर पैन्सिल व कापी देकर भेज दिया और कहा, मैं ठीक पांच बजे सबके कागज पर हस्ताक्षर करूंगा। उन्होंने काय-निर्माण से आठों स्थानोंमें जाकर एक ही समय पर सबके कागजों पर हस्ताक्षर किये। जब वे सब एकत्रित हुये तो वह अपने स्थान पर ही मौजूद थे। यह था उनका काय-निर्माण।

पञ्च महाभूतों पर अलग-अलग अधिकार प्राप्त करने पर योगी में अलौकिक शक्तियां आ जाती हैं तथा उन महाभूतों पर उसका अधिकार होता है। पृथ्वी तत्त्व पर अधिकार प्राप्त कर लेने पर योगी पृथ्वी में अनायास ही प्रवेश पा सकता है तथा निकल सकता है। वह अपने शरीर को बहुत भारी बना सकता है। इसी प्रकार जल पर अधिकार प्राप्त होने पर संसार में समस्त रसों का उसे ज्ञान हो जाता है। अग्नि पर अधिकार होने पर आग्नेय लोक (सूर्यादि) में प्रवेश कर आग्नेय शरीर से वहीं रह सकता है। वायु तत्त्व पर अधिकार कर लेने पर वायु में स्वच्छन्द विचरण कर सकता है। आकाश-गमन आदि सिद्धियां आ जाया करती हैं। आकाश तत्त्व पर अधिकार होने पर संसार में जहां-जहां तक आकाश है सब प्रकार के शब्दों को योगी सुन सकता है।

"देशबन्ध चित्तस्य धारणा" किसी एक स्थान विशेष पर अपने चित्त को एकाग्र करना धारणा कहलाता है। धारणा दो प्रकार की होती है—एक बाह्य, किसी वस्तु विशेष पर दृष्टि दूसरी आभ्यान्तर जिसे वृत्ति बन्ध भी कहते हैं। धारणा में कल्पना करनी पड़ती है, इस प्रकार धारणा करते-करते कालान्तर में वही ध्यान रूप में बदल जाती है। ध्यान में प्रत्यक्ष अनुभव होता है जबकि धारणा कल्पना का विषय है। ध्यान करते-करते उसी स्वरूप में साधक की तदाकारिता वृत्ति हो जाती है। धारणा, ध्यान व समाधि का संयम करने का यह फल होता है कि जिस भी वस्तु के बारे में हम जानना चाहें उसी का यथार्थ ज्ञान हो जाया करता है। "सूर्ये संयमात् भुवन ज्ञानं।" सूर्य में संयम करने पर समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है। योगी अपने मन को सूर्य-किरणों में संयमित कर लेता है वह किरण ब्रह्माण्ड में जहां तक है वहां तक के ब्रह्मांड का ज्ञान हो जाता है। शरीर में मणिपूरक चक्र अग्नि का केन्द्र है, वहां पर संयम करने से योगी को भुवन ज्ञान होता है। बाहरी जो दृश्यमान सूर्य है, उसमें संयम करने से नहीं। इसमें यदि हम संयम करना चाहेंगे तो हमारी आंखें अन्धी हो जाएँगी, क्योंकि आंखों में अग्नि तत्त्व है और सूर्य भी अग्नि का केन्द्र है। सिद्धान्त यह है कि बड़ी शक्ति छोटी शक्ति को अपने में विलीन कर लेती है।

(शेष टाइटिल ३ पर)

(पृष्ठ ४८ से आगे)

अस्मितानुगत समाधि तक योगी जब पहुँच जाता है तो उसमें दो विशेष ताकतें आ जाती हैं। एक यह कि उसमें चित्त-निर्माण एवं काय निर्माण की योग्यता आ जाया करती है। योगी कई चित्तों का निर्माण कर अनेक शरीर धारण कर सकता है। दूसरी शक्ति योगी को प्राप्त होती है वह है ऋतम्भरा प्रज्ञा। इस प्रज्ञा के प्राप्त होने पर योगी सिद्धान्तों का निर्णायक बन जाया करता है। इस प्रज्ञा के उत्पन्न होने पर नये संस्कार नहीं बनते।

तज्ज संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी

ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्य संस्कारों का बाधक होता है।

समाधिकाल में चित्त की वृत्तियां विलीन हो जाती हैं, परन्तु व्युत्थान कालमें (साधारण दशा में) साधक के जैसे गुण होते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार पाया जाता है। अतः जिस साधक ने समय गुरुदेव के नियन्त्रण में रहकर यम-नियम आदि साधनों का ठीक से पालन न किया हो तो व्युत्थान काल में वैसा ही आचरण करता है जैसा उसका स्वभाव है। इसलिये यम-नियमों का पालन अत्यावश्यक है। योगी सम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत जब कई चित्त-निर्माण की योग्यता रखता है, तब वह कई चित्त बनाकर अपने संस्कारों का क्षण भर में भुगतान कर सकता है।

इसलिये जब तक साधक कम से कम आनन्दानुगत समाधि तक न पहुँचे—उसके बार-बार बुलाये जाने पर भी परमात्मा उसके पास नहीं आते। द्रोपदी की भगवान ने हर समय सहायता की। इसका कारण यही था कि वह योग-ध्यान वाली थी, उसका मन एकाग्र था। कई योगी आनन्दानुगत या अस्मितानुगत समाधि को ही आत्म-साक्षात्कार समझ लेते हैं, ऐसे योगी देह नाश के पश्चात् प्रकृतिलीन रहा करते हैं। पश्चात् जन्म ग्रहण करते हैं, उन्हें जन्म से ही योग की प्रतीति होती है।

भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम्

इस प्रकार अन्य भी विभूतिपाद में वर्णित सिद्धियां संयम से प्राप्त की जाती हैं।

यह सबका सब ज्ञान तृप्तात्मा योगी की उपलब्धियां हैं। विज्ञान तृप्तात्मा वह होता है, जिसने पूर्णरूपेण आत्म-साक्षात्कार कर लिया हो।

इस प्रकार जीवन धन सद्गुरुदेव जी ने दस दिन पर्यन्त योग-सिद्धान्तों को अपने बालकों के मनमें भरने का प्रयत्न किया। ऐसे सद्गुरुदेव को लाख-लाख प्रणाम है।

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सर्वाई (एत्मादपुर) आगरा ।

PRINTED MATTER
Book-Post

—❋—

श्री ....

....

....

....

❋ साधक ध्यान–योग परायण बनें ❋

—❋—

हमारी ज्ञानेन्द्रियों के दो रूप हैं—एक बाह्य रूप तथा दूसरा आभ्यन्तर। बाहर की ओर ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार भोग प्रदान कराने वाला होता है। चाहे व्यक्ति बाहर से कितना ही विरक्त बनने की कोशिश करे, जब तक उसकी ज्ञानेन्द्रियां आन्तरिक जगत में प्रवेश नहीं कर पातीं, सबका सब भोग ही माना जाता है। जब हमारी ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार भीतर की ओर हो जाता है, तब साधक अपवर्ग की ओर बढ़ने लग जाया करता है। इसलिए साधक को अधिक से अधिक समय ध्यानयोग की साधना में देना चाहिए, जिससे उसकी आन्तरिक शक्ति बलवती हो सके।

—अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
(कुरुक्षेत्र के प्रवचन का एक अंश)

Regd. No. L. AG. 108

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई कलां, ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३१६८